

मार्क्सवाद

मार्क्सवाद

कार्लमार्क्स द्वारा प्रतिपादित वैज्ञानिक समाज-
शास्त्र के सिद्धान्तों की ऐतिहासिक व्याख्या

यशपाल

प्रकाशक

विश्व कार्यालय, लखनऊ.

अगस्त १९४०

मूल्य १।।

प्रकाशक
यशपाल
विसव कार्यालय, लखनऊ.

सर्वाधिकार सुरक्षित

मुद्रक
पं० मन्नालाल तिवारी
शुक्ला प्रिंटिंग प्रेस, लखनऊ.

मेरा
यह परिश्रम

समर्पित है उन सब साथियों को जो समाजवाद को पूर्णतः
समझे बिना ही उसके सुखद स्वप्नों की कल्पना किया करते हैं

और

उन सब मित्रों को जो समाजवाद का वास्तविक परिचय
प्राप्त किये बिना ही उसे समाज, सभ्यता और संस्कृति का
शत्रु समझते हैं ।

यशपाल

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
भूमिका	
समाजवादी विचारों का आरम्भ	१६
असमानता की नींव	२०
असमानता में वृद्धि	२२
सन्तों का साम्यवाद	२४
साम्यवाद और समाजवाद	
आरम्भिक काल	२६
फ्रांस—सेण्ट साइमन	२७
लुई-ब्लां	३०
प्रौद्यो	३२
इंगलैण्ड—राबर्ट-ओवन	३४
माल्थस	३६
जर्मनी—लास्साल	३६
राडवर्ट्स	४३
माक्स	...

विषय	पृष्ठ
मार्क्सवाद	
समाजवाद और मार्क्सवाद ...	५२
मार्क्सवाद का ऐतिहासिक आधार ...	५४
भौतिकवाद ...	५८
मार्क्सवाद और आध्यात्म ...	५४
इतिहास का आर्थिक आधार ...	६७
सरकार ...	७३
मजदूर शासन ...	७८
मजदूर तानाशाही ...	८२
समाजवाद और कम्युनिज्म ...	८४
समाजवाद में समानता ...	८६
कम्युनिज्म-समष्टिवाद ...	८६
मार्क्सवाद और युद्ध ...	८६
विकास के लिये प्रोत्साहन ...	१०३
त्रा पुरुष और सदाचार ...	११०
मार्क्सवाद तथा दूसरे राजनैतिकवाद	
डंग्सवाद ...	१२३
राष्ट्रीय पुनः संगठन ...	१२८
नाज़ीवाद-फैसिस्टवाद ...	१३७
प्रजातंत्र-समाजवादी और कम्युनिस्ट ...	१५०

विषय

पृष्ठ

गांधीवाद	...	१५८
प्रजातंत्रवाद	...	१६८
अराजवाद (अनाकिंजम)	...	१७६
विश्व-क्रान्ति का सिद्धान्त	...	१८२
मार्क्सवाद का आदर्श अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट व्यवस्था		१८६

मार्क्सवादी अर्थशास्त्र

समाज में श्रेणियाँ और उनके संबंध	...	१६३
पूँजीवाद का विकास	...	१६८
विनिमय	...	२०१
मुनाफ़ा कहाँ से ?	...	२०३
सौदे का दाम	...	३०४
दाम का आधार श्रम है	...	२०६
परिश्रम की शक्ति और परिश्रम का रूप		२०७
रुपया या सिक्का	...	२०६
आवश्यक सामाजिक श्रम	...	२१२
साधारण-श्रम और शिल्प-श्रम	...	२१३
माँग और पैदावार	...	२१४
पूँजीवाद में शोषण का रहस्य	...	२१७
परिश्रम की शक्ति का दाम और परिश्रम का दाम		२२०
अतिरिक्त श्रम और अतिरिक्त दाम	...	२२४

विषय

पृष्ठ

पूँजी	...	२२८
अतिरिक्त-श्रम का दर	...	२३०
मजदूरी या वेतन	...	२३२
पूँजीवाद में अंतर-विरोध	...	२३४
पूँजीवाद में कृपि	...	२३६
बड़े परिमाण में खेती	...	२४५
आर्थिक संकट	...	२४७
अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पूँजीवाद	...	२४६
अन्तर्राष्ट्रीय-पूँजीवादी-साम्राज्यवाद	...	२५४

भूमिका

पिछले कुछ वर्षों में मनुष्य-समाज के सामने अनेक 'वाद' पेश किये गये हैं। यह सब 'वाद' मनुष्य-समाज की दिन प्रति दिन बढ़ती हुई मानसिक और शारीरिक वेचैनी को दूर करने के नुसखे हैं। इतने अधिक नुसखों का पेश किया जाना इस बात की प्रबल साक्षी है कि समाज में एक भयंकर रोग लगा हुआ है। इधर पिछले बीस वर्ष में मनुष्य-समाज का यह रोग कई रूपों में फूट निकला है। समाज में बेकारी की हाय-हाय, बाज़ारों की मन्दी, आर्थिक संकट, करोड़ों आदमियों का भूखों मरना, समाज में श्रेणियों का संघर्ष और सबसे बढ़कर युद्ध; यह सब समाज के शरीर में समाये भयंकर रोग के प्रकट रूप हैं। विज्ञान तेज़ी से आगे बढ़ रहा है, जिसकी कभी कल्पना करना कठिन था आज वह सब आँखों के सामने हो रहा है। मनुष्य-समाज की इस बढ़ती हुई शक्ति के बावजूद मनुष्य-समाज बेवस है। विज्ञान, आविष्कार और सभ्यता इन सबकी उन्नति का एकमात्र उद्देश्य है मनुष्य-समाज का संतोष और शान्तिपूर्वक रहकर विकास कर सकना ॥ सब कुछ करके भी मनुष्य-समाज का यह उद्देश्य पूर्ण नहीं हो रहा।

नये नयेवादों के यह नुसखे, समाज की इस अव्यवस्था और कलह का इलाज अलग अलग ढंग पर तजवीज़ करते हैं। उदाहरणतः पूँजीवादियों का ज़्याला है कि यह आर्थिक संकट और अव्यवस्था समाज का मामूली-सा ज़ुकाम है जो यों ही सर्दी-गर्मी से हो गया है।

उन्हें पैदावार कम करके ज़रा उपवास करना चाहिये और सब ठीक हो जायगा। समाजवाद का ज़्यादा ही मनाज सिद्धि और मुक्त हो गया है। उसके शरीर में जहाँ-जहाँ विकार प्रकट हो रहा है, वहाँ पल्ल लगाकर शून्य वहाँ देना चाहिये और बाकी शरीर को तस्मात् में कम देना चाहिये।

शेष संसार चाहे गांधीवाद के सिद्धान्तों की पन्नाह न करे परन्तु इस देश के निवासी उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते। गांधीवाद समाज को निरंतर उपवास की अवस्था में रखकर उन्हें बढ़ने न देना ही उसे स्वस्थ रखने का उपाय समझता है। इसलिये वह आवश्यकताओं को कम करने, पैदावार के साधनों को विज्ञान के युग से पहले की अवस्था में ले जाने और भगवान ने सुशुद्धि की प्रार्थना करने में ही मुक्ति का मार्ग देखता है। समाजवाद भी इन्हीं नुसलों में से एक है। उसका भी अपना तरीका है और वह तरीका है, ऐतिहासिक निदान के आधार पर। समाज की आदिम अवस्था में वह इस रोग के लक्षणों की खोज आरम्भ करता है और बताता है कि इस विषमता का कारण मनुष्य-समाज के पैदा कर सकने और खर्च कर सकने में असमानता। वह बताता है कि अवस्था बदलने पर उन्चार और व्यवहार भी बदल जाना चाहिये। ऐसा न करने में ; समाज की अवस्था बदल जाने पर भी यदि व्यवहार न बदलेगा तो अवस्था व्यवहार पर बन्धन लगायेंगी और व्यवहार अवस्था को अव्यवस्थित कर देगा। अर्थशास्त्र की भाषा में कहा जायगा कि समाजवाद कहता है कि समाज के जीवन निर्वाह के तरीके बदल गये हैं, इसलिये उसकी व्यवस्था को भी बदल देना चाहिये।

अब तक मनुष्य समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण और भविष्य का विधान तैयार हुआ है विश्वास और धारणा के आधार पर, उस क्षेत्र में मनुष्य की शक्तियाँ सीमित थीं ; वह अलौकिक शक्ति और प्रकृति के हाथ में एक खिलौना था । समाजवाद समाजशास्त्र को विज्ञान की सहायता से भौतिक आधार पर खड़ा करता है जहाँ मनुष्य ही सर्वोपरि शक्ति है । समाज अपने पुराने संस्कारों और व्यवस्था से चिपटा हुआ है । नई बात उसे अपनी अब तक की समझ का अपमान जान पड़ता है । इसलिये वह नई बात से जुब्ब भी होता है और कभी कभी नवीनता का मोह उसे उचित से अधिक आकर्षित करने लगता है । ज़रूरत है इन दोनों ही बातों से बचकर तटस्थ होकर सोचने और निश्चय करने की । प्रस्तुत पुस्तक न समाजवाद का प्रचार करने के लिये लिखी गई है और न समाजवाद के कीटाणुओं का ध्वंस करने के लिये ही । यह केवल परिचय मात्र है, जिसका उद्देश्य है गहरे विचार और अध्ययन की प्रवृत्ति पैदा करना । समाजवाद को समझाने के लिये उसे जन्म देने वाले ऐतिहासिक कारणों को जानना ज़रूरी है और दूसरे वादों से उसकी तुलनात्मक विवेचना करना भी है । इस पुस्तक में इसी दृष्टिकोण से काम लिया गया है । समाजवाद का विवेचन होने पर भी पुस्तक को समाजवाद 'मार्क्सवाद' कहा गया । इसका उद्देश्य मार्क्स की स्मृति पर श्रद्धा के फूल चढ़ाना नहीं । इसका कारण पुस्तक में ही स्पष्ट किया गया है ।

पुस्तक का आरम्भ किया गया था ऐसे मित्रों के अनुरोध से जो 'विप्लव' में प्रकाशित 'मार्क्सवाद की पाठशाला' का नियमित

रूप से अध्ययन करते रहे हैं और इस विषय में गहरे ज्ञान चाहते हैं। आरम्भ में विचार था उन्हें लेखों को एक साथ छपवा देने का। परन्तु कागज़ प्रेस में दे देने पर मुझे उनसे संतोष न हुआ इसलिये प्रायः तीन सप्ताह में इस पुस्तक को आमूल लिख देना पड़ा। इस कार्य में मुझे डा० प्रकाश-पाल से तो सहायता मिली ही इसके अतिरिक्त श्री डी० एन० वैष्णव के प्रति कृतज्ञता प्रकट किये बिना भी मैं नहीं रह सकता जिन्होंने कई घण्टे प्रति दिन पाण्डुलिपि की भाषा और प्रूफ़ आदि देखने के लिये व्यय किये, केवल एक थैंक्स पर।

बहुत सम्भव है यदि पुस्तक शर्नः शर्नः लिखी जाती तो कहीं अधिक उपयोगी हो सकती परन्तु जल्दी करनी ही पड़ी। डाक्टर पहाड़ भेजने पर तुले हुए हैं, पहाड़ों पर पुस्तकें छपती नहीं। पहाड़ से लौटने तक इस काम को स्थगित करना भी कठिन था—लौटें या न लौटें! एक दफ़े लौट आये यही बहुत है। जो लोग ध्यान से इस पुस्तक को पढ़ेंगे उनका मैं कृतज्ञ रहूँगा।

२६ अगस्त १९४०

यशपाल

समाजवादी विचारों का आरम्भ

मनुष्य-समाज को उसके संगठन और व्यवस्था के नाते हम अनेक देशों में अनेक रूप में देख पाते हैं। यदि हम इतिहास के मार्ग पर अतीत की ओर चलकर मनुष्य-समाज की आयु का उसकी अनेक अवस्थाओं में निरीक्षण करें तो मनुष्य की सामाजिक व्यवस्था के और भी अनेक विचित्र रूप देखने को मिलेंगे। मनुष्य-समाज जिस किसी भी अवस्था या जिस किसी प्रकार की व्यवस्था में रहा हो सदा ही उसके सन्मुख कुछ सिद्धान्त, नियम और आदर्श रहे हैं। मनुष्य-समाज की अवस्था और व्यवस्था के बदलने के साथ उसके सिद्धान्तों, नियमों और आदर्शों में भी परिवर्तन होता रहा है।

मनुष्य-समाज की व्यवस्था के लिये आदर्श सिद्धान्त और नियम क्या हैं ? इस विषय पर विचारकों में सदा ही मतभेद रहा है। इन मतभेदों का कारण रहा है, इन विचारकों के जीवन की बदलती हुई परिस्थितियाँ। खास समय में खास तरह की परिस्थितियों में जीवन का विकास होने के कारण विचारकों के संस्कार और विचारधारा एक खास मार्ग पर ढल जाती है और यह विचारक खास परिस्थितियों में पैदा होनेवाले विचारों के अनुसार मनुष्य के सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन के उद्देश्य और आदर्श को निश्चित करने का यत्न कर जाते हैं। मनुष्य-समाज की सबसे पुरानी विचार धारा थी एक अलौकिक शक्ति (Super Natural Power) की आज्ञा और इच्छा को सामाजिक

व्यवस्था का आदर्श मानकर चलना । परन्तु समाज की व्यवस्था को भगवान् की इच्छा या अलौकिक शक्ति की प्रेरणा के अनुसार मान कर भी मनुष्य अपनी सामाजिक व्यवस्था से पूर्णतः सन्तुष्ट न हो सका । उसे अपनी सामाजिक व्यवस्था में सदा ही अपूर्णता और त्रुटियाँ नजर आती रहीं । अपनी अवस्था और व्यवस्था में त्रुटि अनुभव कर उसके उपाय की खोज ही मनुष्य-समाज को परिवर्तन और विकास के पथ पर आगे बढ़ाती है । एक समय के विचारक अपने समाज के मार्ग में आनेवाली रुकावटों को देख अपने अनुभव और ज्ञान के आधार पर समाज के लिये एक नई व्यवस्था की तजवीज करते हैं । मनुष्य-समाज जब इस नई व्यवस्था को प्राप्त कर लेता है तो इस नई अवस्था में नये प्रश्न और नई रुकावटें उसके सामने आती हैं । इन नई रुकावटों और प्रश्नों को हल करने के लिये मनुष्य-समाज के विचारक फिर एक और नई व्यवस्था की चिन्ता करने लगते हैं । इस प्रकार परिवर्तन और विकास के पथ पर चलता हुआ मनुष्य-समाज अपनी आज दिन की सभ्यता और व्यवस्था तक पहुँचा है । इस अवस्था में पहुँच कर आज फिर उसके सामने अड़चने हैं, समाज में परस्पर संघर्ष है, अशान्ति है । मनुष्य आज फिर एक और नई व्यवस्था की चिन्ता कर रहा है, जिससे वह उसके सामने पेश कठिनाइयों को हल करना चाहता है ।

मनुष्य के सामने सामाजिक और व्यक्तिगत दृष्टिकोण से सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न रहता है, उसकी जीवनरक्षा का । जब तक मनुष्य के ज्ञान की बढ़ती नहीं होती, उसकी सभ्यता का विकास नहीं होता, अपने जीवन की रक्षा के लिये उसे प्रकृति—जल, वायु, सर्दी, गर्मी और जंगली पशुओं से युद्ध करना पड़ता है । परन्तु मनुष्य का ज्ञान बढ़ जाने पर, उसकी सभ्यता की उन्नति हो जाने पर और मनुष्य-समाज की संख्या के पर्याप्त रूप से बढ़ जाने

पर, स्वयं मनुष्यों में भी अपने-अपने जीवन की रक्षा के लिये संघर्ष और मुकाबला होने लगता है। जब मनुष्य आपस में एक दूसरे के प्रति अपनी शक्ति का प्रयोग करने लगते हैं—वह शक्ति चाहे किसी प्रकार की हो, बुद्धि बल की हो, शारीरिक बल की हो या और किसी तरह की—तब मनुष्यों में कमजोर और बलवान का प्रश्न उठने लगता है, उनमें एक प्रकार की असमानता या विपमता पैदा हो जाती है।

मनुष्य और दूसरे जीवों के बीच की असमानता—मनुष्य का दूसरे जीवों की अपेक्षा अधिक शक्ति और साधन सम्पन्न होना—उसे दूसरे जीवों को अपने लाभ के लिये उपयोग करने का अवसर देता है। इसी प्रकार मनुष्य-समाज में कुछ व्यक्तियों का दूसरों की अपेक्षा अधिक बलवान और साधन सम्पन्न बन जाना उन्हें दूसरे व्यक्तियों को अपने उपयोग के लिये व्यवहार में लाने का अवसर देता है। मनुष्यता के नाते सब मनुष्यों के समान होने पर भी यह असमानता मनुष्य समाज में आ जाती है और इस असमानता और विपमता का फल होता है मनुष्य-समाज में अशान्ति उत्पन्न हो जाना। यह अशान्ति प्रकट होती है कुछ व्यक्तियों के सुखी और कुछ व्यक्तियों के दुखी हो जाने के रूप में—कुछ आदमियों के सन्तुष्ट और कुछ के असंतुष्ट हो जाने में। समाज में पैदा हो जानेवाला यह असंतोष, अशान्ति, विद्रोह और संघर्ष पैदा करता है। मनुष्य-समाज अपने आपको इस अशान्ति और संघर्ष से बचाने के लिये सदा उपाय और चेष्टा करता रहा है।

इस अशान्ति और असंतोष को प्रकट न होने देने के लिये जहाँ मनुष्य ने अपनी शक्ति से काम लिया वहाँ उसने सिद्धान्त भी बनाये। उसने निर्बलों और साधनहीन लोगों को संतोष की

शिक्षा दी और विपमता को बढ़ने से रोकने के लिये उसने बलवानों और साधन सम्पन्न लोगों को दया, सहाभूति और त्याग का भी उपदेश दिया। सन्तोष, दया, सहाभूति और त्याग के उपदेशों को सफल बनाने के लिये इनके परिणामस्वरूप इस जीवन में और मृत्यु के बाद दूसरे जीवन में भी सुख मिलने का विश्वास दिलाया गया। व्यक्ति को समझाया गया कि यह गुण व्यक्तिगत पूर्णता के लक्षण हैं, उसकी उन्नति के साधन हैं और परलोक में सुख देनेवाले हैं। परन्तु इन उपदेशों की तह में समाज में शान्ति और व्यवस्था कायम रखने की इच्छा और उद्देश्य ही मुख्य था। समाज में शान्ति और व्यवस्था की रक्षा के उद्देश्य ने ही धर्म को जन्म दिया क्योंकि मनुष्य-समाज में पैदा हो जाने वाले असंतोष और अशान्ति का कारण थी मनुष्यों की अवस्था में आ जाने वाली असमानता; इसलिये सामाजिक हित के विचार से सदा ही मनुष्य-समाज का हित चाहनेवाले विचारकों ने समानता का उपदेश दिया और असमानता को दूर कर समानता लाने की चेष्टा की। इन उपदेशों और चेष्टाओं का क्या परिणाम हुआ, उन्होंने इसके लिये किन उपायों का व्यवहार किया; उन्हें कहाँ तक सफलता मिली; इसी विषय पर हम क्रमशः विचार करेंगे।

असमानता की नींव

समानता की इस भावना को हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई तथा अन्य सभी धर्मों में विशेष महत्व दिया गया। शायद ही कोई ऐसा सन्त या समाज सुधारक हुआ होगा जिसने समानता का उपदेश न दिया हो परन्तु मनुष्य-समाज के विकास के साथ-साथ यह असमानता बढ़ती ही गई। मनुष्य के जीवन की रक्षा के लिये सबसे अधिक महत्व है जीवन निर्वाह के लिए पैदावार के साधनों

का। जिस व्यक्ति या समाज के हाथ में पैदावार के साधन जितने उन्नत होंगे, उसकी शक्ति भी उतनी ही अधिक होगी। जीवन निर्वाह और पैदावार के साधनों से हीन व्यक्ति को अपने जीवन की रक्षा के लिये आवश्यक तौर पर पैदावार के साधनों के मालिक व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर रहना होगा, उसके वश में रहना होगा। कुछ व्यक्तियों का बहुत बड़े परिमाण में पैदावार के साधनों का मालिक बन जाना और दूसरे व्यक्तियों का इन साधनों से हीन हो जाना ही समाज में असमानता की नींव है। जिस समय तक पैदावार के साधन आरम्भिक अवस्था में थे, उनका बहुत अधिक विकास नहीं हुआ था; कुछ व्यक्तियों के पैदावार के साधनों के मालिक होने और दूसरों के हाथ पैदावार के साधनों के न रहने के कारण उत्पन्न होनेवाली असमानता और विपमता का रूप इतना विकट नहीं हुआ था जितना कि पैदावार के साधनों का अधिक विकास हो जाने पर हो गया। मनुष्य-समाज की विलकुल आरम्भिक अवस्था को छोड़कर, जबकि मनुष्य वन के फलों और वन के पशुओं के मांस पर ही निर्वाह करता था, पैदावार का साधन खेती की भूमि या वन ही थे। उस अवस्था में पैदावार के साधनों की मिलिक्रयत का अर्थ भूमि की मिलिक्रयत था। उस समय मनुष्य के साधन बहुत सीमित थे, इसलिये एक सीमा तक ही वह अपने अधिकार को भूमि पर फैला सकता था। इसके अलावा भूमि की पैदा करने की शक्ति की भी एक सीमा है। इन सीमाओं के कारण भूमि के रूप में मनुष्य के हाथ में आ जाने वाले पैदावार के साधनों की भी एक सीमा थी। जो लोग भूमि पर अपना निजी अधिकार न होने के कारण पैदावार के साधन भूमि के मालिकों की जमीन पर खेती करते थे, वे एक

सीमा तक ही पैदावार कर सकते थे। इसलिये उनसे उठाये जाने वाले लाभ की भी एक सीमा थी। भूमि से उत्पन्न होने वाले पदार्थों के लिये भूमि के एक खास क्षेत्रफल पर खेती करनी ही पड़ती थी और उसके लिये मनुष्यों की एक खास संख्या की जरूरत रहती थी। उस समय बहुत से मनुष्यों का काम कम मनुष्यों से नहीं निकाला जा सकता था; इसलिये पैदावार के साधनों से हीन बेकारों का प्रश्न उस समय नहीं उठ सकता था। बेकारों अर्थात् फालतू आदमियों के न होने से पैदावार के साधन भूमि के मालिक के लिये ऐसे आदमियों को चुन लेना सम्भव नहीं था जिन्हें अपनी मेहनत का कम से कम भाग स्वयं लेने और अधिक से अधिक भाग मालिक को देने के लिये विवश किया जा सके। उस समय यदि साधनहीन मेहनत करने वालों को पैदावार के साधन—भूमि का उपयोग न करने देकर पैदावार के दायरे से बाहर कर दिया जाता तो उससे पैदावार की मिकदार में कमी आये बिना नहीं रह सकती थी। इसलिये मालिकों की भूमि पर काम करनेवाले लोग स्वयं भूमि के मालिक न होते हुए भी इस अवस्था में थे कि अपनी मेहनत से होनेवाली उपज का अपने निर्वाह के लिये अति आवश्यक भाग रखकर शेष मालिक को देने की शर्त पर जीवन निर्वाह का अवसर पा सकते। भूमि के अतिरिक्त दूसरे साधनों या औजारों से जीविका पैदा करने वाले कारीगर लोग, उदाहरणतः जुलाहे, बढ़ई, लोहार, कुम्हार आदि अपने औजारों के स्वयं मालिक थे। वे अपनी इच्छा और आवश्यकता के अनुसार पदार्थों को अपने लाभ के लिये पैदा करते थे।

असमानता में वृद्धि

परन्तु व्यापार की बढ़ती, कलों और मशीनों के आविष्कार और उनकी उन्नति से पैदावार के साधनों की शक्ति बढ़ गई।

इन आविष्कारों ने आरम्भ में तो समाज को लाभ पहुँचाया परन्तु कुछ समय में इनके कारण नई समस्याएँ पैदा होने लगीं। पैदावार के साधनों की शक्ति बढ़ने से ऐसी अवस्था आई कि मशीनों की सहायता से एक मनुष्य अनेक मनुष्यों की शक्ति का काम करने लगा। जिस काम को पहले दो या अधिक मनुष्य करते थे उसे मशीन की सहायता से अब एक ही व्यक्ति कर सकने लगा। इसके साथ ही पैदावार के साधन मशीन का रूप धारण कर पहले के साधनों—मामूली औजारों की अपेक्षा कहीं खर्चीले हो गये, जिन्हें साधारण या कम हैसियत के व्यक्ति प्राप्त नहीं कर सकते थे। इस अवस्था में जो व्यक्ति पैदावार के साधन प्राप्त कर सकते थे उनकी पैदावार की शक्ति बहुत अधिक बढ़ गई और जो इन साधनों को प्राप्त न कर सके उनके हाथ पैदावार की शक्ति बिल्कुल भी न रही। कला कौशल और उद्योग धन्दों की बढ़ती और विकास के बाद समाज में पैदावार के साधनों की मिल्लियत की दृष्टि से एक ऐसी असमानता आई जो कृषि-प्रधान काल की असमानता और विषमता से कहीं भयंकर थी। जिन देशों और समाजों में औद्योगिक विकास अधिक तेजी से हुआ वहाँ यह विषमता भी अधिक तेजी से और अधिक उग्र रूप में आई। भारत की अपेक्षा योरुप में और योरुप के और देशों की अपेक्षा फ्रांस और इंगलैण्ड में औद्योगिक विकास तेजी से हुआ इसलिये वहाँ ही इस विषमता ने और इस विषमता के कारण पैदा होनेवाले परिणामों ने सबसे प्रथम अपना रूप दिखाया और समाजवादी भावना को जन्म दिया।

मनुष्यों की आर्थिक अवस्था में समानता लाने के लिये समाज की व्यवस्था में परिवर्तन करने की जो विचारधारा आज दिन समाजवाद या मार्क्सवाद के नाम से हमारे सामने

आ रही है, उसे अनेक व्यक्ति भारतीय वातावरण और संस्कृति के लिये विदेशी और अनुपयुक्त वस्तु समझते हैं। उनकी दृष्टि में इस देश की परिस्थितियों में समाजवाद की विदेशी विचारधारा के लिये कोई गुंजाइश नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि समाजवाद की विचारधारा पहले पश्चिम में ही विकसित हुई और वहीं से इसका प्रचार बढ़ा। पश्चिम के देशों में ऐसी विचारधारा पैदा करनेवाली परिस्थितियाँ भारत से पहले पैदा हुईं परन्तु समय गुज़रने के साथ वह परिस्थितियाँ इस देश में भी उत्पन्न होगई हैं इसलिये भारत का ध्यान भी उस ओर उतने ही वेग से जा रहा है।

सन्तों का साम्यवाद

दया, धर्म और मनुष्यता के नाते समानता की भावना मनुष्य-समाज में बहुत पुरानी है और इस दृष्टि से समानता और साम्य-वाद के आदर्श का उपदेश देनेवालों की इस देश में कमी नहीं बल्कि अधिकता ही रही है। इस प्रकार का साम्यवाद जिसे हम सन्तों का साम्यवाद कह सकते हैं, कृषि और व्यापार के कारण उत्पन्न होनेवाली असमानता के युग की चीज़ थी। परन्तु पैदावार के साधनों में उन्नति हो जाने से, मनुष्य मनुष्य की शक्ति में भयंकर अन्तर आजाने पर जो समानता की आवाज़ उठी वह दूसरी प्रकार की थी। यह दूसरे युग की समानता की आवाज़ दया, धर्म और मनुष्यता की नींव पर नहीं, बल्कि समाज और व्यक्ति के लिये जीवन के अधिकारों के रूप में उठी। कृषि और सामन्तयुग में साम्यवाद की पुकार का उद्देश्य था, उस समय

॥ सामन्तयुग इतिहास में वह युग था जिसमें भूमि के स्वामी सामन्त, सरदारों और जागीरदारों की प्रधानता थी।

मौजूद सामाजिक व्यवस्था में अशान्ति को प्रकट होने से रोकना । इस पुकार को उठाने वाले स्वयं सम्पन्न लोग थे । परन्तु औद्योगिक काल में उठने वाली साम्यवाद की पुकार का उद्देश्य था, उस समय मौजूद सामाजिक व्यवस्था को बदल देने का प्रयत्न करना । यह पुकार उठाई स्वयं शोषितों ने ।

भारत की अवस्था दूसरी थी । यहाँ बहुत समय तक औद्योगिक और व्यापारिक विकास यहाँ की अशान्त राजनैतिक परिस्थिति के कारण न हो सका, इसलिये यहाँ आर्थिक विषमता भी विकट रूप धारण न कर सकी । उन्नीसवीं सदी के आरम्भिक और मध्यभाग में जब योरुप राजनैतिक स्थिरता के समय आविष्कारों द्वारा औद्योगिक और व्यापारिक उन्नति में लगा हुआ था, उस समय भारत छोटे छोटे राजनैतिक भागों में बँटा था, जो सदा आपस में लड़ते रहते थे । जीवन निर्वाह के साधन—जलवायु और भूमि के अनुकूल होने के कारण सुगमता से प्राप्त हो जाते थे परन्तु न वह राजनैतिक शान्ति थी और न जीवन का प्रकृति के साथ वह संघर्ष, जो विकास और आविष्कार को जन्म देता है ।

साम्यवाद और समाजवाद

आरम्भिक काल

अंग्रेजी शब्द सोशलिज्म के लिये हिन्दी में साम्यवाद और समाजवाद शब्दों का व्यवहार होता है। परन्तु साम्यवाद और समाजवाद शब्दों का एक ही अर्थ नहीं। मोटी नजर से विपमता और असमानता के विरुद्ध वे एक ही भावना को प्रकट करते हैं; परन्तु यदि शब्द किसी कार्यक्रम या समाज के किसी रूप की कल्पना हैं तो इनका अर्थ भिन्न-भिन्न होगा। समाजवाद के विचारों के विकास के इतिहास में इन दोनों ही शब्दों का स्थान है, परन्तु अलग-अलग अवस्थाओं में। यह दोनों शब्द एक ही विचार को प्रकट नहीं करते। साम्यवाद का अर्थ है—समाज में समानता लाना। वह समाज की एक अवस्था को प्रकट करता है। समाजवाद शब्द समाज की अवस्था को प्रकट करने के साथ ही एक साधन की ओर भी इशारा करता है। साम्यवाद का अर्थ है—समाज में सब समान हों। समाजवाद का अर्थ है—समाज स्वामी हो। समाजवाद का अनुवाद अंग्रेजी में 'सोशलिज्म'—'सोसाइटी की प्रधानता' समझना ठीक है परन्तु साम्यवाद का अंग्रेजी अनुवाद सोशलिज्म न होकर 'इक्वेलिटेरियनिज्म'—इक्वेलिटी 'समानता की प्रधानता' करना ठीक होगा।

साम्यवाद और समाजवाद विचारों के विकास की स्पष्ट अलग अलग अवस्थायें हैं। विपमता के कारण समाज में

उत्पन्न होनेवाली अशांति ने समानता की ओर मनुष्य की प्रवृत्ति की; वह साम्यवाद की बात सोचने लगा। साम्यवाद की ओर प्रवृत्ति होजाने पर समानता को प्राप्त करने का साधन उसने सोचा—व्यक्ति के बजाय समाज का शासन—समाजवाद ।

फ्रांस

वर्तमान समय में समाजवाद का गढ़ रूस समझा जाता है । परन्तु समाजवादी विचारधारा का आरम्भ हुआ सब से प्रथम फ्रांस और इंग्लैण्ड में । उसके वैज्ञानिक विकास का श्रेय है जर्मनी के विचारकों को और क्रियात्मक रूप में वह आया सब से पहले रूस में । इतिहास के इस क्रम को ध्यान में रखने से यह विचार कि समाजवाद रूस या दूसरे पश्चिमी देशों के वातावरण और वहाँ की जनता की मनोवृत्ति के ही अनुकूल कोई खास विचारधारा है, पूर्व में उसकी जरूरत और गुंजाइश नहीं, इतिहास की दृष्टि से सही नहीं जान पड़ता ।

समाजवादी विचारों का सबसे पहला परिचय हमें साम्यवाद के रूप में फ्रांस और इंग्लैण्ड के विचारकों से मिलता है । फ्रांस का पहला साम्यवादी विचारक था सेण्ट-साइमन (Saint-Simon) । इसका जन्म सन् १७६० में हुआ था और इंग्लैण्ड के पहले साम्यवादी रॉबर्ट ओवन का जन्म हुआ था—सन् १७७१ में । इन दोनों ही विचारकों पर अपने देश में नये आने वाले औद्योगिक परिवर्तन के कारण बढ़ती हुई विषमता का गहरा प्रभाव पड़ा । उस समय के अंग्रेज मजदूरों की अवस्था के विषय में उस समय का प्रसिद्ध लेखक थॉमस किर्कप (Thomas Kirkup) यों लिखता है :—

(१) किसानों और मजदूरों का निर्वाह उन्हें मिलनेवाली मजदूरी से होना असम्भव था ।

(२) उनके निवास स्थानों की अवस्था अत्यन्त शोचनीय है ।

(३) पूँजीपति और ज़मीन्दार लगातार मज़दूरी घटाने का यत्न करते रहते थे और इसके लिये वजाय मर्दों के स्त्रियों और बच्चों को काम पर लगाया जाता था, जिनसे काम उनकी शक्ति भर लिया जाता था परन्तु मज़दूरी आधी या उससे भी कम दी जाती थी । इसके परिणामस्वरूप मज़दूरों और किसानों में बेकारी खूब बढ़ गई थी ।

(४) अपनी अवस्था में सुधार करने का कोई राजनैतिक साधन या अधिकार मज़दूरों के हाथ में न था । वे न तो अपना संगठन ही कर सकते थे, न क़ानून आदि के सन्वन्ध में वोट द्वारा अपनी राय दे सकते थे ।

(५) शिक्षा प्राप्त करने का उनके लिये कोई अवसर न था । उनमें शराबखोरी और व्यभिचार बेहद बढ़ रहा था । मर्दों की अपेक्षा स्त्रियों की मज़दूरी सस्ती थी, इसलिये उन्हें आसानी से काम मिल जाता था और मर्द प्रायः स्त्रियों की कमाई पर निर्वाह करते थे । स्त्रियों की अपेक्षा बच्चों से काम लेना और भी अधिक सस्ता पड़ता था इसलिये प्रायः पाँच-छः बरस की आयु में बच्चों को काम पर लगाकर उनसे चौदह-चौदह घण्टे काम लिया जाता और बारह चौदह वर्ष की आयु तक इन बच्चों को विलकुल निस्सत्त्व करके भूखों मरने के लिये बेकार छोड़ दिया जाता । किंग्सले उस समय का एक प्रसिद्ध उपन्यास लेखक हुआ है ; अपने समय के अंग्रेज़ किसानों और मज़दूरों की अवस्था का जो वर्णन उसने किया है उसे पढ़कर एक भयंकर नरक का दृश्य आँखों के सामने नाचने लगता है । फ़्रांस के मज़दूरों और किसानों की अवस्था इससे अच्छी न थी । दोनों ही देशों में उत्पत्ति के नये साधनों के पैदा होजाने और इनके कुछ एक पूँजी-

पतियों के हाथों और जमीन्दारों के आधीन भूमि के सिमित जाने से एक बड़ी संख्या ऐसे लोगों की पैदा हो गई जिनके अपने हाथ में पैदावार के कोई भी साधन न रहे। और उन्हें अपना पेट पालने के लिये अपने शरीर को मालिकों के हाथ किराये पर देना पड़ता था।

समाज की इन विषमताओं को दूर करने के लिये फ्रांस में सेण्ट-साइमन ने आवाज उठाई। वह समाज में समता लाना चाहता था; समाज की अवस्था में सरकार की शक्ति से सुधार द्वारा। उसके विचार में सरकार की बागडोर धर्मात्मा और वैज्ञानिक लोगों के हाथ में रहनी चाहिये थी और समाज में पूजीपतियों के हित को प्रधान महत्व न देकर संपूर्ण समाज के हित को महत्व दिया जाना चाहिये था। उसके विचार में कम योग्य और शक्तिहीन लोगों के हितों और अधिकारों की रक्षा का बोल योग्य मनुष्यों पर रहना चाहिये था। सेण्ट-साइमन का गरीबों के लिये समानता का दावा मनुष्यता के नाते था इसलिये नहीं कि गरीब या मजदूर ही अपने परिश्रम से समाज के लिये आवश्यक वस्तुओं की पैदावार करते हैं। अपने समय की सामाजिक विषमता की ओर उसका ध्यान गया परन्तु विषमता उत्पन्न करनेवाले कारणों की ओर उसका ध्यान न गया, परिश्रम और पूँजी में क्या सम्बन्ध है, इस बात को उसने स्पष्ट नहीं किया। बजाय यह समझने के कि पैदावार के साधन हाथ में होने से कुछ मनुष्य अधिक सामर्थ्यवान हो गये हैं, उसने यह समझा कि सामर्थ्यवानों के हाथ में पैदावार के साधन चले जाते हैं क्योंकि वे बलवान हैं इसलिये वह सामर्थ्यवानों को दया और न्याय का उपदेश देता था।

सेण्ट-साइमन ने अपनी कल्पना के अनुसार समाज का एक ढाँचा तैयार किया जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यता के

अनुसार स्थान देकर गरीबों को भी जीवन का अवसर समान रूप से देने की व्यवस्था की गई थी। इस व्यवस्था में समाज की आवश्यकताओं के विचार से पैदावार का प्रबन्ध सरकार द्वारा किये जाने का सिद्धान्त रखा गया था और यह सरकार ईसाई धर्म के सिद्धान्तों के अनुसार कायम होनी चाहिये थी। सेण्ट-साइमन ने अपने साम्यवादी विचारों को समाज के आर्थिक संगठन पर नहीं बल्कि मनुष्य की सहृदयता की नींव पर खड़ा किया।

धार्मिक भावना के नाम पर प्रचार करने के कारण उसके प्रति फ्रांस की जनता में पर्याप्त सहानुभूति उत्पन्न हो गई। परन्तु जब साइमन ने पुराने धार्मिक विश्वासों का खण्डन करना शुरू किया तो वह सहानुभूति विद्रोह के रूप में भी शीघ्र ही परिवर्तित हो गई। अपने जीवन काल में उसने अनेक साम्यवादी मठ स्थापित किये, जो उसके जीवन का अन्त होते ही समाप्त हो गये। सेण्ट-साइमन ने अपने विचार अपनी पुस्तकों (Du System Industrial, Catechisme des Industrials और Nouveau Christianisme) में प्रकट किये हैं। इन पुस्तकों में अर्थ-शास्त्र या समाज-शास्त्र के सिद्धान्तों का निरूपण न होकर भावुकता की ही प्रधानता है। सेण्ट-साइमन के पश्चात् उसके शिष्यों, आँफोर्टी, वज्राद आदि में मतभेद हो जाने से उनके संगठन देर तक न टिक पाये।

सेण्ट-साइमन के बाद फ्रांस में साम्यवाद का प्रचार करने वाले विचारकों में खास व्यक्ति था लुई ब्लॉ (Louis Blanc) जिसके विचारों में आधुनिक समाजवाद की ओर विकास के संकेत मिलते हैं। लुई ब्लॉ का जन्म सन् १८११ में हुआ था। वह प्रतिभाशाली लेखक था, उसकी पुस्तक 'परिश्रम का संगठन' (Organisation du travail) ने फ्रांस के मजदूरों में

जीवन फूँक दिया। लुई ब्लॉ पहला समाजवादी था जिसने मजदूर किसानों को राजनैतिक शक्ति हाथ में लेने की आवश्यकता सुझाई। लुई ब्लॉ के विचार में आदर्श सरकार एक औद्योगिक सरकार थी, जो राष्ट्र के उद्योग-धन्धों का प्रबन्ध करे और वैकों को अपने नियंत्रण में रखेगी। यह सरकार पूर्णतः प्रजातंत्र होनी चाहिये और उद्योग-धन्धों और कारखानों में परिश्रम और प्रबन्ध करने वाले व्यक्तियों को यह अधिकार होना चाहिये था कि अपने-अपने व्यवसायों के मैनेजर, डाइरेक्टर आदि का चुनाव स्वयम् करें और अपने व्यवसाय से होनेवाले मुनाफे को आपस में बाँट कर परस्पर सहयोग से ही अपने कारोबार को बढ़ायें। लुई ब्लॉ निजी सम्पत्ति को भी समाज के कल्याण के लिये हितकर नहीं समझता था; परन्तु उसने सम्पत्ति के राष्ट्रीयकरण या सामाजिक अधिकार में लाने की तत्परीक्षा यह रखी कि सरकार की ओर से भारी-भारी व्यवसाय आरम्भ किये जायँ, जिन की सफलता के सन्मुख निजी सम्पत्ति स्वयम् ही समाप्त हो जायगी। फ्रांस की राज्यक्रान्ति का परिणाम आम जनता के हाथ में शक्ति आना नहीं हुआ। शक्ति राजसत्ता और सामन्तशाही के हाथ से निकल कर नयी उठती हुई पूँजी की मालिक मध्यम श्रेणी के हाथों चली गई। सम्पत्तिहीन श्रेणियों को इससे संतोष नहीं हो सकता था। इसलिये क्रान्ति के छोटे-छोटे अनेक प्रयत्न फ्रांस में हुए जिनसे राजनैतिक अधिकारों का विस्तार नागरिकों की निम्न श्रेणियों में होता गया। फ्रांस की सन् १८४८ की समाजवादी-प्रजातंत्र-राज्यक्रान्ति का समाजवाद के इतिहास में विशेष महत्व है। इस क्रान्ति में समाजवादी व्यवस्था को क्रियात्मक रूप देने का पहला प्रयत्न किया गया। यह प्रयत्न यद्यपि असफल हुआ परन्तु अपने बीज भविष्य के

लिये छोड़ गया। लुई प्लाँ का इस क्रान्ति में विशेष प्रभाव था और उसके प्रभाव के कारण उस समय की प्रजातंत्र सरकार को सामाजिक सम्पत्ति और नियंत्रण में चलने वाले व्यवसायों के लिये १,२०००० पाउण्ड की रकम नियत करनी पड़ी। परन्तु इसका विशेष फल न हुआ; क्योंकि इस रकम का प्रबन्ध जिन लोगों के हाथों में था, उनकी सहानुभूति इस उद्देश्य के प्रति नहीं थी।

फ्रांस में समाजवादी विचारधारा के प्रवर्तकों में प्रौधों (Proudhon) का भ्रिक न करने से समाजवाद के विकास की एक कड़ी का स्थान खाली रह जाता है। प्रौधों के प्रभाव का समय प्रायः सन् १८४० से १८७० तक रहा। यद्यपि प्रौधों समाजवादी होने की अपेक्षा अराजकता का ही अधिक समर्थक था; फिर भी अपने समय में उसने कुछ ऐसी महत्वपूर्ण बातों की ओर संकेत किया, जिन्हें वैज्ञानिक रूप देने के कारण ही मार्क्स समाजवाद के सिद्धान्तों की वह ठोस नींव तैयार कर सका जिस पर आज वह कायम है।

सम्पत्ति के विषय में प्रौधों के विचार आमूल क्रान्ति के थे। सन् १८४० में उसने एक पुस्तक “सम्पत्ति है क्या?” (*Que'st ce que la Propriété ?*) प्रकाशित की। इस पुस्तक में उसने सिद्ध करने की चेष्टा—कि “संपत्ति चोरी है” (*Propriété cest la vol*)। उसकी दूसरी प्रसिद्ध पुस्तक “न्याय और धर्म की धारणा में क्रान्ति” (*La révolution dans la justice et dans la l'eglis*) ने भी प्राचीन विचारधारा की नींव खोखली करने में विशेष काम किया। प्रौधों पहला विचारक था जिसने इस बात को सुझाया कि किसान-मजदूर के साधनहीन होने के कारण उसे अपने परिश्रम का पूरा मूल्य नहीं मिलता और

साधनों का मालिक बिना परिश्रम किये ही परिश्रम के फल को हथिया लेता है। मार्क्स ने 'अतिरिक्त मूल्य' (Theory of Surplus value) के जिस सिद्धान्त की स्थापना की, उसकी ओर पहला अधिकसित संकेत हम यहीं पाते हैं। प्रौढ़ों समाज में मौजूद सम्पूर्ण सम्पत्ति पर सम्पूर्ण समाज की मिलिक्यत का समर्थक था।

सरकार की व्यवस्था के बारे में प्रौढ़ों के लिये यह सह्य न था कि मनुष्य द्वारा मनुष्य पर किसी प्रकार का शासन हो। जिस शासन में व्यक्ति को अपने विकास के लिये पूर्ण अवसर न हो, वह उसकी दृष्टि में केवल अत्याचार था।

समाज की व्यवस्था के साथ धर्म-विश्वास का गहरा सम्बन्ध रहता है और सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन लाने की चेष्टा धर्म-विश्वास और समाज के मौजूदा रीति रिवाज को चोट पहुँचाये बिना नहीं रह सकती। यद्यपि फ्रांस के आरम्भिक समाजवादी सेण्ट-साइमन, फूरियर, लूई ब्लॉ आदि आध्यात्मिक शक्ति से मुनकिर न थे, उन्होंने धार्मिक प्रतिबन्धों के विरुद्ध भी आवाज उठाई और विशेषकर गृहस्थ के बन्धनों, स्त्रियों के पुरुष और परिवार की सम्पत्ति समझेजाने के प्रति। स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध में इन लोगों के रीति रिवाज की उपेक्षा करने का परिणाम यह हुआ कि दूसरों की दृष्टि में यह लोग आचारहीन जँचने लगे। एक हद तक इन लोगों के विचारों के प्रभाव के कारण जनता के आचार में उच्छृङ्खलता भी आ गई। इस कारण पुरानी आचार निष्ठा में विश्वास रखनेवाले लोगों को इनके प्रति अश्रद्धा होने लगी और जनता में इनके प्रति अविश्वास फैल हो गया। प्रौढ़ों

॥ अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त क्या है, इस पर आगे चलकर विचार किया जायगा।

ने इस प्रकार की उच्छृङ्खलता का घोर विरोध किया। उसने कहा कि स्त्री-पुरुष के आचार सम्बन्धी नियमों को धार्मिक भय से न मानकर, वैयक्तिक विकास का साधन और व्यवस्था के लिये आवश्यक समझना चाहिये। उसके इन विचारों का क्रियात्मक रूप हम रूस के मौजूदा समाज में देख पाते हैं, जहाँ स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध, विवाह आदि का धर्म से कोई सम्बन्ध न होने पर भी इस प्रकार की उच्छृङ्खलता की व्यक्ति और समाज के लिये असम्मान का कारण और उनके विकास में बाधक समझकर दूर रखने की चेष्टा की जाती है।

इंग्लैण्ड

फ्रांस की भाँति इंग्लैण्ड में भी समाजवादी विचारों का आरम्भ साम्यवाद और समता के प्रयत्नों के रूप में हुआ। इंग्लैण्ड का पहला साम्यवादी था 'रॉबर्ट-ओवन' (Robert Owen)। जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, रॉबर्ट-ओवन फ्रांस के पहले साम्यवादी सेण्ट-साइमन का समकालीन था। रॉबर्ट व्यापारिक और प्रबन्ध कौशल की दृष्टि से बहुत सफल व्यक्ति था। उसका पिता जीनसाज की मामूली दूकान करता था परन्तु रॉबर्ट अपने परिश्रम और कौशल से उन्नीस वर्ष की अवस्था में ही इंग्लैण्ड की एक बड़ी कपड़ा मिल का मैनेजर बन गया। मिलों और व्यापार से सम्बन्ध रहने के कारण उसे दिन-प्रतिदिन मजदूरों की गिरती हुई अवस्था और पूँजीपतियों के बढ़ते हुए वैभव, दोनों का ही भलीभाँति परिचय था। अपनी व्यापारिक योग्यता के कारण वह कई मिलों का पत्तिदार बन, मिलों से होनेवाले लाभ से स्वयम् भी लखपती बन गया। रॉबर्ट समाज की अवस्था के इस विरोधाभास से परेशान था कि समाज में पैदा-वार के साधन उन्नति करते जाते हैं, धन बढ़ता जाता है, परन्तु

मजदूरों और भूमिहीन किसानों की अवस्था गिरती चली जाती है। समाज में बढ़ते हुए धन से गरीबों और मजदूरों की अवस्था में भी लाभ होना चाहिए, इस विचार से उसने मजदूरों की हालत सुधारने के लिये स्कूल खोलने आरम्भ किये।

अपना रुपया बढ़ाकर मजदूरों की वस्तियाँ उसने अलग स्थानों पर बसाई, जहाँ उन्हें साफ रहने, व्यवहार ठीक रखने की शिक्षा दी जाती थी। मजदूरों के लिये उसने इस प्रकार की दुकानें खोल दीं जिनमें अच्छे और बढ़िया सामान प्रायः केवल लागत पर ही मिल सकते थे। मजदूरों की अवस्था में सुधार करने के लिये उसने एक नई कम्पनी चलाई, जिसके हिस्सेदार केवल ५% मुनाफ़ा लेकर ही सन्तुष्ट हो जाते थे और मुनाफ़े का शेष भाग मजदूरों की भलाई में खर्च किया जाता था। इस प्रकार की जनसेवा या परोपकार के कामों में रॉबर्ट को सफलता भी पर्याप्त मिली। परन्तु उसके यह सब काम गरीबों के प्रति दया और सहानुभूति के परिणाम थे। इनमें सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन लाने का विचार नहीं था। उन दिनों इंग्लैण्ड की मिलों में मजदूरों की अवस्था को सुधारने के लिये बननेवाले कानूनों को पास कराने में भी रॉबर्ट ने विशेष प्रयत्न किया।

सन् १८१३ तक रॉबर्ट एक सुधारक के रूप में रहा, जैसा कि इसकी पुस्तकों 'समाज का नया दृष्टिकोण' (A new view of Society—1813) और 'मनुष्य के आचरण के संबंध में निबंध' (Essays on the Principle of Formation of Human Character—1813) में प्रकट किये विचारों से लगता है। परन्तु सन् १८१७ से उसके विचारों में उग्रता आने लगी। सबसे पहले पार्लिमेण्ट में पेश 'गरीब सहायक कानून' (Poor Law) पर रिपोर्ट देते समय उसने लिखा था—मजदूरों

की दुरावस्था का कारण है मशीनों द्वारा उनके परिश्रम का मूल्य घटा देना ।

माल्थस

अर्थशास्त्र या समाज शास्त्र के विकास का कोई भी वर्तन अपूर्ण रहेगा जबतक कि उसमें 'माल्थस' (Malthus) और उसके विचारों का चर्चा न हो । उन्नीसवीं सदी के मध्य काल में जब पैदावार का प्रयोजन पैदावार के साधनों के स्वामी पूँजीपति का पेट भरना ही था और जब मजदूरों द्वारा मशीनों पर कराई जाने वाली पैदावार द्वारा मजदूरों के शोषक पर कोई प्रतिबन्ध—उदाहरणतः काम बन्दे या कम-से-कम मजदूरी आदि कानूनों की सीमायें नहीं लगाई गई थीं, मजदूरों की बेकारी और दुरावस्था अत्यंत भयंकर रूप धारण कर गई । उस अवस्था को देख माल्थस इस परिणाम पर पहुँचा कि समाज में सब लोगों के निर्वाह के लिये पर्याप्त पैदावार नहीं हो रही और उस ने अर्थशास्त्र का यह सिद्धान्त कायम किया कि पैदावार एक सीमा तक ही बढ़ाई जा सकती है । उसके पश्चात् जितना भी परिश्रम पैदावार को बढ़ाने के लिये किया जायगा निष्फल होगा । इसलिये समाज को संतुष्ट रखने के लिये समाज में मनुष्यों की संख्या को एक सीमा के अन्दर ही रहना चाहिए ।

माल्थस का विचार था कि इंग्लैण्ड फ्रांस आदि देशों में बढ़ती हुई बेकारी का कारण इन देशों की जनसंख्या का पैदावार के साधनों की सामर्थ्य से अधिक बढ़ जाना था । इसलिये इन देशों में बेकारी और मजदूरों की दुरावस्था होना स्वाभाविक था और इसका उपाय था केवल जनसंख्या का घटना, जिसे प्रकृति बीमारी, बेकारी और युद्ध द्वारा घटाने की चेष्टा करती रहती है । रॉबर्ट ने इस सिद्धान्त का घोर विरोध कर पैदावार और जनसंख्या के

आंकड़ों के हिसाब से यह दिखाया कि समाज में धन और पैदावार की जितनी बढ़ती हुई है, जनसंख्या की बढ़ती उतनी नहीं हुई। पैदावार के साधनों में उन्नति होने से समाज में प्रति मनुष्य धन का परिमाण बढ़ गया है परन्तु इस बढ़े हुए धन का बँटवारा उचित रूप से न होने के कारण कुछ मनुष्यों के पास आवश्यकता से अधिक और कुछ के पास आवश्यकता से बहुत कम धन जाकर उनकी अवस्था संकटमय हो जाती है। माल्थस के सिद्धान्त यद्यपि सचाई की कसौटी पर पूरे नहीं उतरे परन्तु समाजशास्त्र के विकास में उनका विशेष महत्व है, क्योंकि माल्थस के सिद्धान्त अर्थशास्त्र के विकास में उस मंजिल की सूचना देते हैं, जहाँ पूँजीवादी अर्थशास्त्र के नियम समाज में व्यवस्था कायम करने में अपने आपको असमर्थ अनुभव करने लगते हैं और समाज में शक्ति रक्षा का उपाय केवल समाज की संख्या को कम करना बताते हैं।

रॉबर्ट के विचारों में हम विकास का एक स्पष्ट क्रम देख पाते हैं। १८३५ में लिखी उसकी पुस्तक 'गरीबों का संरक्षक' (Poor Man's Guardian) में स्पष्ट उन विचारों को देख पाते हैं, जिन्हें मार्क्स के 'अतिरिक्त मूल्य' (surplus value) के वैज्ञानिक सिद्धान्तों की भूमिका कहा जा सकता है। रॉबर्ट लिखता है—“सम्पूर्ण पैदावार मजदूर और किसानों के श्रमसे ही होती है परन्तु सब कुछ पैदा कर भी इन्हें केवल प्राणरक्षा के योग्य भोजन पाकर ही सन्तुष्ट होजाना पड़ता है। शेष धन चला जाता है पूँजीपति, जमीन्दार, राजा और पादरियों की जेब में।

सहयोग द्वारा पैदावार की पद्धति का श्रेय भी रॉबर्ट को ही है, जिसका कि आज सभ्य संसार के सभी देशों में काफ़ी प्रचार

❖ पूँजीवादी अर्थशास्त्र से अभिप्राय है अर्थशास्त्र का वह क्रम जो पूँजी के हित को और व्यक्तिगत मुकाबिले को प्रधानता देता है।

दिखाई देता है। 'सोशलिज्म'—समाजवाद शब्द का सबसे प्रथम प्रयोग भी रॉबर्ट द्वारा स्थापित 'सम्पूर्ण राष्ट्रों की सम्पूर्ण श्रेणियों के सहयोग की संस्था' (The Association of All classes of all Nations) के वाद-विवादों में ही हुआ।

जैसे हम ऊपर कह आये हैं, आरम्भ में रॉबर्ट द्वारा चलाये गये मजदूर सहायक आन्दोलन की जड़ में धार्मिकता, दया और मनुष्यता की भावना ही प्रधान थी। इसलिये अमीर और संपन्न श्रेणियों की आत्माभिमान की भावना के पूर्ण होने की उसमें काफी गुंजाइश थी। इसलिये उसे इन श्रेणियों का—धर्माधिकारियों और इंगलैण्ड के राजवंश का सहयोग भी प्राप्त हुआ। परन्तु ज्योंही रॉबर्ट ने पूँजीवादी समाज के चौखटे को जकड़े रखने वाली धार्मिक भावना पर चोट करना आरम्भ किया, उसके संगठनों का शीराजा बिखर गया, लोग उससे वद्वजन होने लगे। अपना बहुत सा धन अपने अनुभवों में फूँक देने के बाद वह स्वयं खस्ता हाल हो गया और दूसरे संपन्न लोगों ने उसे आर्थिक सहायता देना स्वीकार न किया। इससे उसका साम्यवादी मजदूर-सहायक आन्दोलन स्वयं तो बिखर गया परन्तु असंतोष के बीज छोड़ गया।

रॉबर्ट का आन्दोलन समाप्त हो जाने पर भी इंगलैण्ड में मजदूरों की दुरावस्था के प्रति जाग उठी सहानुभूति समाप्त नहीं हो गई और क्रिश्चियन-समाजवाद के रूप में एक सुधारवादी आन्दोलन चलना आरम्भ हुआ। रॉबर्ट द्वारा चलाई हुई सहयोग प्रणाली का जहाँ तक पैदावार से सम्बन्ध था, वह प्रायः असफल ही रही। अलवत्ता जहाँ खपत के लिये—अर्थात् उपयोगी पदार्थों को एक साथ खरीद कर सस्ते में प्राप्त करने का सवाल था—यह प्रणाली एक हद तक सफल हो सकी।

जर्मनी

उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में साम्यवादी या समाजवादी विचारों की जो लहर इंग्लैण्ड और फ्रांस में उठी, वह कोई स्थूल परिणाम पैदा किये बिना ही इस सदी के मध्य में (१८५०) पहुँचकर कम-से-कम कुछ समय के लिये दब सी गई। इसके बाद इस विचार धारा का विकास हुआ रूस और जर्मनी में। जर्मनी के समाजवादी विचारकों में 'कार्ल मार्क्स' (Karl Marx) 'फ्रेडरिक एंगल्स' (Ferdrich Engles) 'लास्साल' (Lassalle) और 'रॉडवर्ट्स' (Rodburtus) के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। मार्क्स की खोज और सिद्धान्तों का समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र पर क्या प्रभाव पड़ा यही इस सम्पूर्ण पुस्तक का विषय है और उस पर हमें विस्तार से विचार करना है ; परन्तु उस मूल विषय पर आने से पहले हम समाजवादी विचारधारा पर लास्साल और रॉडवर्ट्स के प्रभाव पर भी कुछ प्रकाश डाल देना आवश्यक समझते हैं। इसके साथ ही सामाजवादी विचारधारा के इंग्लैण्ड और फ्रांस में शान्त हो जाने और जर्मनी तथा रूस में उग्ररूप से उठ जाने के कारण पर भी ध्यान देना समाजवाद के ऐतिहासिक विकास क्रम को समझने में सहायक होगा। परन्तु इस विषय को यहाँ न आरम्भ कर इसे हम मार्क्स के सिद्धान्तों पर विचार करते समय ही लेंगे और उसी समय हम समाजवाद के स्थान पर मार्क्सवाद शब्द को व्यवहार करने की सफाई देंगे।

'लास्साल' (Ferdinand Lassalle) जाति का यहूदी था। उसका जन्म सन् १८२५ में एक अमीर व्यापारी के घर हुआ था। विशेष प्रतिभाशाली होने के साथ उसे ऊँचे दर्जे की शिक्षा प्राप्त करने का भी पर्याप्त अवसर मिला। प्रतिभाशाली व्यक्तियों की साधारण स्वच्छन्दता भी लास्साल में कम न थी। शौक और

मिजाज से वह बड़े आदमियों के ढंग का था परन्तु विचारों में अपने समय का उग्र क्रान्तिकारी । घटनाक्रम से लास्साल जर्मनी में विशेष उथल-पुथल के समय आया । उसके विचार जनता के सामने सन् १८६० के बाद आये और यह वह समय था जब प्रशिया के नेतृत्व में जर्मन-राष्ट्र का निर्माण हो रहा था । एक ओर विस्मार्क था जो राजसत्ता की शृंखला में बाँधकर जर्मनी को ज़बरदस्त शक्ति बना देना चाहता था, दूसरी ओर थे जर्मनी के उदार दल वाले जो प्रजातंत्र के हामी थे । लास्साल इन दोनों से ही असहमत था । उसने अपना दल 'समाजवादी-प्रजातंत्र' (Social Democratic Party) के नाम से कायम किया ।

लास्साल और कार्ल मार्क्स तथा रॉडवर्ट्स के विचारों में बहुत कुछ साम्य है । लास्साल अनेक बातों में अपने आपको मार्क्स और रॉडवर्ट्स का अनुयाई समझता था ; परन्तु फिर भी लास्साल का अपना एक स्थान है । लास्साल के दृष्टिकोण में हम भावुकता की अपेक्षा वास्तविकता का अधिक आभास पाते हैं और लास्साल द्वारा वास्तविकता की ओर होने वाली प्रवृत्ति मार्क्स तक पहुँचकर वैज्ञानिक हो जाती है । इसीलिये हमें उसके राजनैतिक, आर्थिक सिद्धान्तों तथा वैज्ञानिक समाजवाद में अधिक अंतर नहीं दिखाई देता ।

लास्साल का (Iron Law of wages) मज़दूरी के लौह पंजे का नियम उसके आर्थिक और सामाजिक सिद्धान्तों की नींव है ; ठीक उसी प्रकार जैसे मार्क्स की विचारधारा की नींव 'अतिरिक्त मूल्य' (Surplus value) का सिद्धान्त है । लास्साल कहता है, पूँजी के नियंत्रण के कारण मज़दूर को पैदावार का कम से कम भाग—अर्थात् उतना ही भाग जिसके बिना वह जीवित नहीं रह सकता, मिल पाता है । मार्क्स भी यही कहता है ; परन्तु वह इसके कारणों पर सफलतापूर्वक प्रकाश डालता है ।

इससे पूर्व जितने समाजवादी विचारक हुए ; उन्होंने समाज की सहानुभूति, सरकारी कानून और सहयोग संस्थाओं द्वारा मजदूरों और किसानों की अवस्था सुधारने की ओर ध्यान दिलाना चाहा । परन्तु लास्साल इस परिणाम पर पहुँच गया था कि यह सब संस्थाएँ पूँजीवाद के युग में जहाँ, व्यक्तिगत मुनाफे का राज है और जहाँ मजदूर के शोषण की कोई सीमा नहीं, कभी सफल नहीं हो सकतीं । यह सिद्धान्त मार्क्स द्वारा निश्चित सिद्धान्त—स्वयम मेहनत करने वाली श्रेणी का राज ही वास्तव में सर्वजनहित की रक्षक सरकार हो सकती है—का आरम्भिक संकेत है । इसके आगे लास्साल ने समाज में पूँजी और मजदूरों के हितों के विरोध को हटाने की आवश्यकता पर भी जोर दिया । यहाँ तक पहुँचकर भी क्रियात्मक क्षेत्र में लास्साल मजदूरों की ऐसी औद्योगिक पंचायती संस्थाओं के विचार से आगे नहीं बढ़ सका, जिनके हाथ में राजनैतिक शक्ति न हो । वह मजदूरों की पंचायती संस्थाएँ आरम्भ कराना चाहता है क़ायम सरकार के भरोसे । परन्तु मार्क्स सरकार की शक्ति को ही पूर्णरूप से मजदूरों के हाथों सौंप देने के सिवा और कोई चारा नहीं देखता ।

मार्क्स के इस सिद्धान्त का बीज हमें लास्साल के दो और सिद्धान्तों में अविकसित रूप में दिखाई देता है । वे सिद्धान्त हैं, 'सम्मिलित उत्तरदायित्व' (Theory of Conjunctions) और 'पूँजी के स्वामित्व' (Theory of Capital) के सम्बन्ध में । 'सम्मिलित उत्तरदायित्व' से लास्साल का अभिप्राय है कि समाज के आर्थिक क्षेत्र में प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वार्थ के लिये मनमानी करने की स्वाधीनता न होकर सामाजिक हित की दृष्टि से समाज का आर्थिक कार्यक्रम निश्चित होना चाहिये ; क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के व्यवहार का प्रभाव समाज की अवस्था पर पड़ता है और

प्रत्येक व्यक्ति समाज की अवस्था पर निर्भर रहता है। पूँजी के विषय में लासाल का कहना था कि पूँजी ऐतिहासिक कारणों से पैदा हुई है, समाज को इसकी आवश्यकता है। समाजवाद यह नहीं कहता कि पूँजी न रहे, बल्कि वह यह कहता है कि पूँजी पर एक व्यक्ति के स्वामित्व की अपेक्षा सम्पूर्ण समाज का स्वामित्व ही समाज के हित के अनुकूल है। लेकिन मार्क्स इससे आगे जाता है। वह सिद्ध कर देता है कि पूँजी एक आदमी के परिश्रम की उपज नहीं बल्कि समाज के सम्मिलित परिश्रम की उपज है, इसलिये वह समाज की ही सम्पत्ति है।

रॉडवर्ट्स

भिन्न-भिन्न समाजवादी विचारकों के क्रमिक विकास से हम समाज की उस मानसिक अवस्था में पहुँच गये हैं जिसमें मार्क्स ने समाजवादी विचारधारा को वैज्ञानिक कसौटी पर पूरा उतरने योग्य बना दिया। अब हम मार्क्स के विचारों का विश्लेषण, उन्हें अनुभव और तर्क की कसौटी पर परखकर कर सकेंगे। इससे पूर्व कि हम मार्क्स के विचारों की समीक्षा आरम्भ करें, जर्मन समाजवादी रॉडवर्ट्स के विषय में भी दो शब्द कह देना उचित होगा। रॉडवर्ट्स एक विचित्र प्रकार का समाजवादी था, जिसे समाजवाद के क्रियात्मक क्षेत्र में समाजवादी कहना भी कठिन है। आन्दोलन या क्रान्ति के विचारों के वह समीप नहीं फटकता है। स्वभाव से बहुत शान्त, पेशे से वकील और जमीन्दार, परिवर्तन की रफ्तार से धवराने वाला और उत्तरोत्तर विकास का हामी। राजनैतिक क्षेत्र में वह समाजवाद, राष्ट्रीयता और राजसत्तात्मक नीति के एक पंचमेल का समर्थक था। उसका विचार था कि जर्मन सम्राट को ही एक समाजवादी शासक सम्राट का स्थान दिया जाना चाहिए। परन्तु जहाँ तक

अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का सम्बन्ध था, वह बहुत आगे बढ़ा हुआ था। यहाँ तक कि समाजवादी विचारधारा के अनेक ऐतिहासिक मार्क्स से पहले रॉडबर्ट्स को ही वैज्ञानिक समाजवाद का जन्म-दाता बताते हैं।

पदार्थों या सौदे के मूल्य के सम्बन्ध में उसके विचार प्रमुख अर्थशास्त्रज्ञ रिकार्डो (Ricardo) और आदम-स्मिथ (Adam Smith) की ही तरह थे। उसका विचार था कि पदार्थों या सौदे का मूल्य उसे उत्पन्न करने वाले परिश्रम पर ही निर्भर करता है। परिश्रम के कारण ही इन पदार्थों का मूल्य या दाम निश्चित होता है। भूमि के लगान, व्यवसाय के मुनाफे और मजदूर की मजदूरी को वह सामाजिक पैदावार का भाग समझता था, जिसे सम्पूर्ण समाज का सम्मिलित परिश्रम पैदा करता है। इसलिये मजदूरी या वेतन के पूँजीपति की अपनी पूँजी के भाग से दिये जाने का कोई प्रश्न उठ ही नहीं सकता। परन्तु भूमि या पूँजी आदि पैदावार के वे साधन—जिन्हें समाज के सम्मिलित परिश्रम ने उत्पन्न किया है—ऐसे पूँजीपतियों और जमींदारों के कब्जे में रहते हैं, जो स्वयं पैदावार के लिए परिश्रम नहीं करते। यह लोग परिश्रम करने वाले मजदूरों के परिश्रम का भाग अपने उपयोग के लिये रख लेते हैं।

समाज में आर्थिक संकट आने पर ही मनुष्य का ध्यान अपने समाज की त्रुटियों, उसमें मौजूद विषमताओं की ओर जाता है, इन त्रुटियों को दूर करने के लिये ही मनुष्य इनके कारणों की खोज कर नई आयोजनाओं की फ़िक्र करता है। पूँजीवादी प्रणाली

* आर्थिक संकट से अभिप्राय केवल रुपये-पैसे की कमी नहीं, बल्कि समाज में जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं की कमी या उनका ठीक बँटवारा न होना है।

से समाज में पैदावार के साधनों का पर्याप्त विकास होजाने पर लगातार समाज में बने रहने वाले आर्थिक संकट के हल करने के लिये ही समाजवाद का जन्म हुआ। इसलिये आर्थिक संकट के बारे में किसी भी विचारक के विचार इस बात का निश्चय कर सकते हैं कि समाजवाद के प्रति उसका क्या रुख है ? इसी दृष्टि से हमें रॉडवर्ट्स के विचारों को देखना है। रॉडवर्ट्स कहता है:—

“समाज की पैदावार निरन्तर बढ़ती जा रही है परन्तु परिश्रम करने वालों (मजदूरों) को इस पैदावार में से केवल उतना ही भाग मिलता है, जिसके बिना उनकी प्राण रक्षा नहीं हो सकती— (जितनी वे पैदावार करते हैं उतना नहीं) परन्तु यह परिश्रम करने वाले (मजदूर) भी उस समाज का एक अंग हैं जो पैदावार को खर्च करते हैं। इन लोगों को जब पैदावार का उचित हिस्सा नहीं मिलता तो खर्च करने की इनकी शक्ति घट जाती है। इसका अर्थ होता है कि समाज जितना पैदा करता है उतना खर्च नहीं कर पाता। परिणाम यह होता है कि पैदावार बिना खर्च हुए पड़ी रहती है और भविष्य में पैदावार कम करने की कोशिश की जाती है। इस वजह से पैदावार के लिये मेहनत करने वाले लोगों (मजदूरों) को काम से हटा दिया जाता है, वे बेकार होजाते हैं। बेकार होगये लोग आमदनी का कोई साधन न होने के कारण खरीद फरोख्त भी नहीं कर पाते और समाज में इकट्ठा होगई पैदावार और भी कम खर्च होती है। इस प्रकार समाज के आर्थिक संगठन का दायरा तंग होता जाता है। दिन-प्रति-दिन ऐसे लोगों की संख्या बढ़ती जाती है जिनके लिये समाज में स्थान नहीं रहता। पूँजीपतियों के पास अलवत्ता इस तरीके से धन की बड़ी रकम जमा होजाती है जिसे वे केवल ऐयाशी पर खर्च कर सकते हैं। इसलिये समाज में ऐसी अवस्था आने पर मेहनत

करने वालों की शक्ति समाज के भूखे-नंगे अंग की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिये खर्च न होकर भोग के पदार्थ तैयार करने में खर्च होती है। रॉडवर्ट्स के इन विचारों को हम आधुनिक समाजवादी विचारधारा से किसी प्रकार भी अलग नहीं कर सकते।

रॉडवर्ट्स एक ऐसे आदर्श समाज की कल्पना करता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति के लिये समान अवसर हो। पैदावार के साधन भूमि और पूँजी सामाजिक सम्पत्ति हों, सम्पूर्ण समाज की आवश्यकताओं का अनुमान कर उन्हें पूर्ण करने के लिये पैदावार की जाय। प्रत्येक व्यक्ति शक्ति भर परिश्रम करे और उसे उसके परिश्रम के अनुसार फल मिल जाय। इन विचारों के आधार पर हम रॉडवर्ट्स को एक वैज्ञानिक समाजवादी कहे बिना नहीं रह सकते। परन्तु दूसरी ओर जब समाजवाद को कार्यरूप में परिणित करने के लिये कार्य-क्रम का प्रश्न आता है, तो रॉडवर्ट्स मजदूर श्रेणी को राजनीति के भंफट में न पड़ने की सलाह देता है। वह कहता है, यह सब तो स्वाभाविक क्रम से स्वयम ही होगा परन्तु शनैः शनैः, विकास की राह से, आन्दोलन द्वारा तुरन्त नहीं। और इसके लिये वह प्रायः पाँच सौ वर्ष का समय आवश्यक समझता है।

एक बात—जिसकी ओर समाजवाद के ऐतिहासिकों का ध्यान नहीं गया, वह रॉडवर्ट्स के राजनैतिक सिद्धान्त थे। वह एक ओर जर्मनी में राष्ट्रीयता और राजसत्ता कायम करना चाहता था और दूसरी ओर उसकी प्रवृत्ति समाजवादी थी। इन दोनों विरोधी विचारधाराओं का मेल हो सकता था केवल राष्ट्रीय-समाजवाद (नाज़ीज़्म) में। मार्क्स द्वारा प्रतिपादित समाजवाद राष्ट्रीयता

के बन्धनों को स्वीकार नहीं करता। वह व्यक्तियों की ही भाँति राष्ट्रों की प्रतियोगिता को भी मनुष्यसमाज के हित के लिये हानिकारक समझता है और समाजवाद में संसारव्यापी एक मनुष्य-समाज की कल्पना करता है। परन्तु रॉडवर्ट्स के राष्ट्रीयराजसत्तात्मकसमाजवाद का अर्थ होता है, एक राष्ट्र (जर्मनी) के भीतर तो समानता और समाजवाद हो परन्तु इस समानता और समाजवाद की सीमा के बाहर जर्मनी दूसरों पर आधिपत्य करे। हिटलर के आधुनिक नाज़ीवाद के बीज हमें रॉडवर्ट्स के एक अजीब वैज्ञानिक और अवैज्ञानिक समाजवादी विचारधारा में मिलते हैं।

उन्नीसवीं सदी के मध्य काल की इस सामाजिक अशान्ति और बेचैनी को न तो फ्रांस की मध्य श्रेणी की राज्य क्रान्ति, न इंग्लैण्ड का चार्टिस्ट आन्दोलन और न जर्मनी में बिस्मार्क की राजनैतिक संगठन की शक्ति शांत और वृत्त कर सकी। इस समय ऐसी परिस्थितियाँ पैदा हुईं जिनमें कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगल्स ने समाज के सन्मुख मौजूद समानता की भावना, पूँजीवादी प्रणाली की असफलता और समाज के आर्थिक संगठन के बारे में उठती हुई आयोजनाओं को लेकर समाजवादी विचारधारा और उसके दार्शनिक पहलू के लिये ठोस वैज्ञानिक नींव की स्थापना की।

मार्क्स

ट्रेन्स जर्मनी में एक छोटा सा नगर है। वहीं ५ मई सन् १८१८ में मार्क्स का जन्म हुआ था। मार्क्स का पूरा नाम था 'कार्ल हेनरिक मार्क्स' (Karl Henerich Marx)। मार्क्स का परिवार यहूदी था। राजनैतिक कारणों से उसके पिता ने यहूदी धर्म छोड़ ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया; परन्तु मार्क्स ने इस परिवर्तन से अपने जीवन में कोई लाभ न उठाया। वकील का पुत्र होने के

६ मज़दूरों द्वारा प्रतिनिधि शासन में वोट की माँग।

कारण उसे शिक्षा प्राप्त करने का पर्याप्त अवसर मिला । उसके स्वभाव में विचारक की गम्भीरता और आन्दोलनकारी की उग्रता दोनों ही मौजूद थीं । इसलिये जहाँ उसे समाजवादी विचारों को वैज्ञानिक रूप देने में सफलता मिली, वहाँ पीढ़ितों के अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की नींव भी वह डाल गया । मार्क्सका अध्ययन बहुत गंभीर था । उसने दर्शन शास्त्र की अनेक विचारधाराओं का भी गूढ़ अध्ययन किया और स्वयं भी उसने यूनिवर्सिटी से दर्शनशास्त्र के आचार्य की पदवी प्राप्त की । उसका विचार था, यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर बनने का । परन्तु उसके उग्र विचारों के कारण यह पद उसे न मिल सका और वह अप्रत्यक्ष रूप से न केवल विचारों की क्रान्ति बल्कि क्रियात्मक क्रान्ति के मार्ग पर चल निकला ।

सन् १८४२ में जर्मनी से स्वतंत्र विचार के लोगों ने एक पत्र प्रकाशित करना आरम्भ किया । मार्क्स भी इस कार्य में सम्मिलित हो गया । कुछ ही मास में उसे इस पत्र का सम्पादक बना दिया गया परन्तु इससे उसे अपने अध्ययन का अवसर न मिलता था ; इसलिये उसने इसे छोड़ दिया । सन् १८४३ में एक सम्पन्न परिवार की लड़की 'जेनी' से उसका प्रेम होगया । अपने स्वतंत्र विचारों के लिये जर्मनी में गुंजाइश न देख जेनी से विवाह कर वह पेरिस चला गया और वहाँ 'फ्रेंको-जर्मन-अब्द-कोश' (Franco German Year Book) के सम्पादन में जा लगा । इस अब्द-कोश में अनेक क्रान्तिकारी विचारकों के लेख प्रकाशित होते थे और उसी नाते सन् १८४४ में एक दूसरे जर्मन विद्वान 'फ्रेडरिक एंगल्स' (Friedrich Engels) से उसका परिचय होगया । इस परिचय के बाद से इन दोनों विद्वानों की मैत्री मार्क्स की मृत्यु तक बनी रही । दोनों ने मिलकर ग्रन्थों की एक बड़ी संख्या समाजवाद की वैज्ञानिक नींव कायम करने और पीढ़ितों (मज्द-

दूर-किसानों) के अन्तराष्ट्रीय आन्दोलन को चलाने के लिये लिखी। दोनों विद्वान गम्भीर विषयों पर एकसाथ विचार करते थे। और इनकी पुस्तकों पर नाम भी प्रायः दोनों का एकसाथ रहता था। अपने क्रान्तिकारी विचारों के कारण मार्क्स को जीवन में कभी चैन नहीं मिली। एक के बाद एक—जर्मनी, फ्रांस, बेलजियम आदि सभी देशों से वह निकाल दिया गया। आयु के पिछले चौतीस वरस उसने इंग्लैण्ड में ही बिताये, जहाँ उसका काम था संसार के सबसे बड़े पुस्तकालय ब्रिटिश म्यूजियम में बैठकर अध्ययन करना और लिखना।

मार्क्स के दो प्रधान मित्रों या सहायकों एंगल्स और वुल्फ की आर्थिक अवस्था अच्छी थी। वे प्रायः मार्क्स को आर्थिक सहायता भी देते रहते थे परन्तु मार्क्स स्वयं कभी अपने गुजारे के लिये पर्याप्त धन नहीं कमा सका। जब उसे उसके लेखों या पुस्तकों की लिखाई में रुपये मिल जाते, वह रुपया फूँकना शुरू कर देता। उस समय अच्छा खाना, शराब और सिगार खूब उड़ता। कुछ ही दिन में सब रुपया समाप्त कर मार्क्स भूखे पेट ही अपनी पुस्तकें लिखने बैठता और ऐसी भी अवस्था अनेक बार आई कि ब्रिटिश-म्यूजियम के पुस्तकालय में मार्क्स अपनी पुस्तकों लिये नोट लिखते समय भूख और कमजोरी के कारण बेहोश होकर कुर्सी से लुढ़क गया और लोगों ने आकर उसे उठाया। उसकी लड़की बीमार होगई परन्तु पैसा पास में न होने के कारण कोई इलाज न कराया जा सका और वह मर गई। इन सब संकटों का प्रभाव मार्क्स पर न पड़ा हो सो बात नहीं, उसका स्वभाव नितान्त चिड़-चिड़ा होगया था। बात-बात पर वह अपनी पत्नी जेनी से झगड़ पड़ता परन्तु जेनी सब सह जाती। वह मार्क्स के चिड़चिड़ेपन का कारण समझती थी और उसे यह भी विश्वास था कि उसका

परिवार चाहे जो मुसीबतें भुगते, परन्तु मार्क्स जिस महान कार्य की नींव डाल रहा है, वह एक दिन संसार के पीड़ितों के दुःख को दूर कर देगा ।

ब्रुसेल्स में रहते समय मार्क्स अपने मित्रों सहित कम्युनिस्ट संघ (लीग आफ कम्युनिस्ट) में शामिल होगया । कम्युनिस्ट संघ की पहली कानफ्रेंस के समय एक घोषणापत्र (कम्युनिस्ट मैनीफेस्टो) प्रकाशित करने का निश्चय किया गया, जिसे लिखने का भार सौंपा गया मार्क्स और एंगिल्स को । यह घोषणा सन् १८४८ के फरवरी मास में प्रकाशित हुई थी । ऐतिहासिकों का मत है कि समाज की अवस्था और उसके विचारों पर जितना गहरा प्रभाव इस पुस्तक ने डाला, उतना प्रभाव इधर दो-तीन सौ वर्ष में और कोई पुस्तक उत्पन्न नहीं कर सकी । कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो को मार्क्सवाद का सूत्ररूप कहा जा सकता है । कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो को 'समाजवादी—मेनीफेस्टो' (Socialist Manifesto) न कह कर कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो क्यों कहा गया, इस प्रश्न के उत्तर में एंगिल्स कहता है—“समाजवाद शब्द का प्रयोग अनेक वे सिर पैर की हवाई आयोजनाओं के लिये हुआ है । परोपकार की भावना द्वारा मजदूरों की अवस्था सुधारने के ऐसे सैकड़ों प्रयत्नों से भी इस शब्द का सम्बन्ध रहा है, जो एक ओर तो मजदूरों का कल्याण करने की फिक्र करते हैं और दूसरी ओर पूँजी तथा उसके मुनाफे को भी सुरक्षित रखे रहना चाहते हैं ।”

कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो प्रकाशित हुआ था ; फरवरी १८४८ में और फ्रांस की तीसरी राज्यक्रान्ति जिसे समाजवादी राज्य-क्रान्ति का नाम भी दिया जाता है—इसी मास के अन्त में हुई । कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो का प्रभाव इस राज्यक्रान्ति पर कितना गहरा पड़ा, इसका अन्दाजा हम इस बात से लगा सकते हैं कि

इस राज्यक्रान्ति में क्रान्तिकारियों ने पेरिस में एक समाजवादी सरकार 'पेरिस-कम्यून' के रूप में स्थापित करने की चेष्टा की थी। यह सरकार स्थापित हो भी गई परन्तु उस समय तक इस सरकार के स्थापन करनेवालों का संगठन और अनुभव इतना न था कि इस काम को सफलता पूर्वक निभा ले जाते।

मार्क्स के इस मेनीफेस्टो का प्रभाव संसार भर के मजदूर आन्दोलन पर पड़ा और मजदूरों के आन्दोलन ने अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण कर लिया। इस मेनीफेस्टो के बाद मजदूरों में एक नई भावना, जिसे मार्क्स 'श्रेणि चेतना' (Class consciousness) का नाम देता है, पैदा हो गई। श्रेणि चेतना को हम मार्क्सवाद के क्रियात्मक रूप का बीज कह सकते हैं।

मार्क्स इंग्लैण्ड में रहते समय लगातार मजदूरों के आन्दोलनों में भाग लेता रहा और अर्थशास्त्र का गहरा अध्ययन कर उसने अर्थशास्त्र की एक नयी पद्धति कायम कर दी जिसे हम पूँजीवादी अर्थशास्त्र के मुकाबिले में 'वर्गवादी' या समष्टिवादी (Communist) अर्थशास्त्र कह सकते हैं। इस अर्थशास्त्र की दृष्टि से मनुष्य-समाज के इतिहास का रूप और दृष्टिकोण ही बिल्कुल बदल जाता है।

मार्क्स का जीवन अपने सिद्धान्तों के लिये संघर्ष का जीवन था; परन्तु इस पुस्तक का विषय मार्क्स का जीवन न होकर मार्क्स के सिद्धान्त या कहिये समाजशास्त्र में मार्क्स के सिद्धान्तों का प्रभाव है, इसीलिये हम मार्क्स के जीवन के विषय में अधिक न कह सकेंगे।

मार्क्स के उग्र सिद्धान्तों को देखकर मार्क्स के प्रति एक कठोर प्रकृति का मनुष्य होने की कल्पना होना स्वाभाविक है। परन्तु मार्क्स की यह उग्रता और कठोरता उसके वैयक्तिक जीवन में

सहृदयता और कोमलता के रूप में प्रकट होती थी। अपनी सन्तान और स्त्री के प्रति उसके हृदय में अगाध स्नेह था। सन् १८८१ में उसकी लड़की और जनवरी सन् १८८३ में उसकी स्त्री का देहान्त हो जाने पर वह इतना निराश हो गया कि अपनी स्त्री की कब्र में कूदने का यत्न करने लगा। मार्क्स की स्त्री के देहान्त के समय एंगल्स ने कहा था—‘मार्क्स मर गया’।

इसके पश्चात् भी मार्क्स शराब के गिलास और सिगार के धुएँ में अर्थशास्त्र पर अपनी पुस्तक ‘पूँजी’ ‘कैपिटल’ (Das Capital) को पूरा करने का यत्न करता रहा। परन्तु उसे इसमें सफलता न मिली और १४ मार्च सन् १८८४ में मार्क्स इस संसार से कूच कर गया। मार्क्स की मृत्यु के पश्चात् एंगिल्स ने ‘पूँजी’ (Das Capital) के तीसरे भाग को समाप्त कर छपवा दिया। मार्क्स की यह पुस्तक मार्क्सवाद या वर्गवाद-समष्टिवाद (Communism) की आधारशिला है।

मार्क्सवाद

हमने इस पुस्तक का नाम सिद्धान्त के नाम पर समाजवाद न रखकर व्यक्ति के नाम पर मार्क्सवाद रखा है ; इसका कारण मार्क्स के व्यक्तित्व के प्रति श्रद्धा के फूल चढ़ाना नहीं बल्कि अपने आपको ऐतिहासिक भूल से बचाना है । रॉबर्ट, लुईब्लां, लासाल और रॉडवर्ट्स के विचारों को हम समाजवाद के रूप में पेश कर चुके हैं परन्तु मार्क्स द्वारा प्रतिपादित विचारधारा इन विचारकों की विचारधारा से स्पष्ट रूप से भिन्न है । यह ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है, उसे ऐतिहासिक रूप से पुरानी विचारधारा के साथ मिला देना भूल होगी । मार्क्स द्वारा संशोधित समाजवाद को, जिसके सिद्धान्तों के लिये विज्ञान की पूर्णता का दावा किया जाता है, खयाली समाजवाद से नहीं मिलाया जा सकता । मार्क्स का सहयोगी समाजवादी विद्वान् एंगल्स स्वयम् इस विषय पर प्रकाश डालता है :—

“.....मैं इस बात से इनकार नहीं कर सकता कि मार्क्स के साथ चालीस वर्ष तक इकट्ठे काम करने से पहले और बाद में भी मैंने स्वतंत्र रूप से आर्थिक सिद्धान्तों की खोज का काम किया है, परन्तु हम लोगों के विचारों का अधिकांश भाग, विशेष कर जहाँ अर्थशास्त्र, इतिहास और क्रियात्मक व्यवहार के आधार-भूत सिद्धान्तों का सम्बन्ध है, श्रेय मार्क्स को ही है । इसलिये इन विचारों और सिद्धान्तों का सम्बन्ध भी उसी के नाम से होना चाहिये.....।”

मार्क्सवाद क्या है, समाजवाद और मार्क्सवाद में क्या अन्तर है, इस बात को ऊपर के उद्धरण स्पष्ट कर देते हैं। अर्थशास्त्र और राजनीति का प्रसिद्ध रूसी विद्वान लियोन्तेव इस भेद को और भी स्पष्ट कर देता है :—

“.....मार्क्सवाद ही पहला प्रयत्न था, जिसने मनुष्य समाज के विकास को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखने का यत्न किया। मार्क्स ने सुधारकों के समाजवादी हवाई महलों को गिराकर वैज्ञानिक समाजवाद की बुनियाद डाली। पूँजीवादी वैज्ञानिक समाज के विकास के नियमों को स्पष्ट कभी नहीं कर सके। वे मनुष्य के इतिहास को केवल घटनाओं की एक शृंखला मात्र समझते रहे। मार्क्स ने मनुष्य समाज के इतिहास की घटनाओं को कार्यकारण की शृंखला में जोड़ दिया। उसने बताया, प्रकृति की ही तरह मनुष्य समाज के विकास और परिवर्तन के भी नियम हैं। उसने बताया कि मनुष्य समाज का रूप और संगठन किसी बाह्यशक्ति से नहीं बल्कि स्वयम् मनुष्य समाज के विचारों, निश्चयों और कार्यों से होता है और आगे भी समाज का रूप आवश्यकता अनुसार बदला जा सकता है। मार्क्स ने यह भी बताया कि पूँजीवादी प्रणाली अपने विकास से समाज में इस प्रकार की परिस्थितियाँ पैदा कर देती है, जो स्वयम् पूँजीवाद का आगे चलना असम्भव कर देती हैं और पूँजीवाद समाज को विनाश के मार्ग पर धकेलने लगता है। इसके साथ ही मार्क्सवाद इस ओर भी ध्यान दिलाता है कि समाजवादी-प्रजातंत्रवादियों* (Social Democrats) के विचार के अनुसार पूँजीवादी शासनप्रणाली

* मार्क्सवाद समाजवादी प्रजातंत्र शासन का विरोधी नहीं है। विरोध है केवल उन लोगों से, जो समाजवादी प्रजातंत्र दल बनाकर क्रान्तिकारी समाजवादियों से भेद रखते हैं।

स्वयम ही निश्कल होकर समाजवाद को स्थान नहीं दे देगी बल्कि उसके लिये समाज की शोषित श्रेणियों को संगठित प्रयत्न करना होगा। मार्क्सवाद के अनुसार समाज के विकास और परिवर्तन के नियम मनुष्यों के प्रयत्न के बिना स्वतंत्र रूप से काम नहीं करते बल्कि समाज की श्रेणियों (Classes) के परस्पर संघर्ष के रूप में यह नियम सकल होते हैं.....।”

मार्क्सवाद का ऐतिहासिक आधार

मार्क्सवाद का आधार ऐतिहासिक है। मनुष्य समाज के शनैः विकास को लेकर वह अपने सिद्धान्त निश्चित करता है और मनुष्य समाज के इतिहास को वह आर्थिक और भौतिक दृष्टिकोण से देखता है। इतिहास को आर्थिक दृष्टिकोण से देखने का अर्थ है, मनुष्य समाज के इतिहास को जीवन संघर्ष के रूप में देखने का यत्न करना। इसे और भी सरल शब्दों में यों कहा जा सकता है—मनुष्य किस प्रकार अपनी जीविका प्राप्त करता है, यही बात उसके रहन सहन के ढंग को निश्चित करती है। मनुष्य के जीविका उपार्जन करने के ढंग के बदलने से समाज का रूप बदल जाता है। किसी व्यक्ति या श्रेणी का समाज में क्या स्थान है, इसका निश्चय इस बात से होता है कि वह व्यक्ति या श्रेणी समाज के जीविका पैदा करने के क्रम में किस स्थान पर है। समाज किस प्रकार संगठित है या उसे किस प्रकार बाँटा जा सकता है, यह देखना हो तो हम समाज को व्यक्तियों में नहीं बल्कि श्रेणियों में संगठित देखते हैं। समाज में पैदावार की दृष्टि से यह श्रेणियाँ अपना-अपना स्थान रखती हैं। इन श्रेणियों में पैदावार के फल या पैदावार के साधनों पर अधिकार करने के लिये जो संघर्ष चलता है, वही मनुष्य-समाज का इतिहास है वही मनुष्य-समाज के विकास का मार्ग है। मार्क्स का कहना है कि

विकास के मार्ग में विरोध का आना आवश्यक है और विरोध पैदा होने पर एक नया विधान तैयार होता है। नया विधान मनुष्य-समाज के विकास को आगे बढ़ने का अवसर देता है। समाज में विकास के मार्ग में आने वाले विरोध और उससे उत्पन्न होने वाले नये विधान का उदाहरण हम इतिहास में इस प्रकार देख सकते हैं—

मनुष्य समाज ने धन, धान्य और सम्पत्ति इकट्ठी कर अपनी सभ्यता की उन्नति आरम्भ की। अपनी शक्ति बढ़ाने के लिये उसने दूसरों को गुलाम बनाकर पैदावार के हथियारों के तौर पर व्यवहार करना शुरू किया। इससे मनुष्य समाज में सम्पत्ति एकत्र हो सभ्यता का विकास हुआ। गुलामों द्वारा एकत्र की गई सम्पत्ति से मनुष्य समाज ने वे पदार्थ तैयार किये, जिन्हें एक मनुष्य की शक्ति तैयार नहीं कर सकती थी। उदाहरणतः—मिश्र के पिरामिड, यूनान के मन्दिर और भारत की विशाल इमारतें। गुलाम आवश्यक वस्तुएँ उत्पन्न करने में लगे रहते थे और संपत्ति-शाली विद्वान संगीत, साहित्य और ज्योतिष की चर्चा किया करते थे। गुलामों के परिश्रम के आधार पर समाज की सम्पत्ति और ज्ञान का विकास हुआ; परन्तु समय आया कि कला कौशल का विस्तार होने से कारखाने खुलने लगे। मशीनों से एक आदमी बीसियों की शक्ति का काम करने लगा। ऐसी अवस्था में गुलामों की संख्या उनके मालिकों के सिर पर बोझ होगई। क्योंकि मालिक लोग मशीन की सहायता से एक ही आदमी से बीस आदमियों का काम करा सकते थे, फिर बीस गुलामों को अपनी सम्पत्ति बनाकर उनका पेट भरने की क्या जरूरत थी; दूसरी ओर उद्योग-धन्दों से पैदावार करने के लिये जिन लोगों ने कारखाने खोले उन्हें मजदूरी पर काम करनेवाले नहीं मिलते थे। क्योंकि मालिकों के गुलाम अपने मालिकों को छोड़कर कहीं नहीं जा सकते थे और

जागीरदारों की रैयत भी उस समय अपने मालिकों की ज़मीन छोड़कर मजदूरी के लिये दूसरी जगह नहीं जा सकती थी। गुलामी की प्रथा जो एक समय स्मृद्धि और सभ्यता की उन्नति के लिये सहायक थी; अब न केवल ब्रोक बन गई बल्कि पैदावार की वृद्धि-स्मृद्धि और सभ्यता की बढ़ती की राह में अड़चन बन गई। इसलिये गुलामी की प्रथा के विरुद्ध आंदोलन चला। गुलामी को मनुष्य-समाज का कलंक बताकर मिटा दिया गया। सब मनुष्यों को स्वतंत्र कर एक समान बनाया गया और उन्हें अपने परिश्रम से जीविका उपार्जन करने की स्वतंत्रता दी गई। यह एक नया विधान (Synthesis) था जो समाज में गुलामी की प्रथा (Thesis) द्वारा होते हुए विकास की राह में अड़चन (Antithesis) आने पर पैदा हुआ।

समाज के आर्थिक संगठन में जीविका उपार्जन करने की व्यक्तिगत स्वतंत्रता के विधान पर जो विकास आरम्भ हुआ उसका रूप था पूँजीपति व्यक्ति स्वतंत्रता पूर्वक व्यवसाय चला सके। उत्पत्ति के साधन जिन व्यक्तियों के हाथ में नहीं, वे भी जीविका-उपार्जन करने में स्वतंत्र हैं, इसलिये जहाँ वे मजदूरी या वेतन अपने निर्वाह के लिये पा सकें, वे काम करें। यह लोग स्वतंत्ररूप से मजदूरी और वेतन पाकर अधिक खर्च करने लगे, इससे पूँजीपति व्यवसायियों को पैदावार बढ़ाने का और अवसर मिला। पैदावार बढ़ाने के लिये मशीनों के और आविष्कार हुए। व्यवसाय फैलने से मुनाफा अधिक हुआ और उससे अधिक बड़ी-बड़ी मिलें

॥ अमेरिका की उत्तरी और दक्षिणी रियासतों में दास प्रथा को दूर करने के लिये जो युद्ध हुआ वह इस बात का अच्छा उदाहरण है। अमेरिका के दक्षिणी भाग उस समय कृषि प्रधान थे, उन्हें गुलामों की ज़रूरत थी और उत्तरी भाग उद्योग प्रधान हो रहे थे जहाँ स्वतंत्र मजदूरों की ज़रूरत थी।

खुलने लगीं। मजदूरों की संख्या बढ़ती गई और दूसरी ओर मशीनरी का व्यवहार बढ़ता गया। अब ऐसी अवस्था आई कि मशीनों की सहायता से दस आदमी सौ मजदूरों का काम करने लगे, इससे मजदूर फालतू बचने लगे। फालतू मजदूर बचने से पूँजीपतियों को यह मौका मिला कि मजदूरी उन मजदूरों को दें जो कम-से-कम लेकर अधिक-से-अधिक काम करें। इसके साथ ही ऐसी मशीनों का उपयोग करें, जिसमें कम-से-कम मजदूरों को काम पर लगाना पड़े; ताकि मुनाफ़ा अधिक हो। परिणाम यह हुआ कि एक बहुत बड़ी संख्या बेकार लोगों की होगई जिनके पास पैदावार के साधन नहीं और न वे कोई काम ही प्रा सकते हैं क्योंकि मजदूरों की संख्या उससे अधिक हो गई है, जितनों की जरूरत है। मशीन के आविष्कार की वजह से पैदावार के काम में पहले से कम मजदूरों की जरूरत होने लगी, इससे मजदूरी भी कम आदमियों को मिलने लगी। इसका परिणाम यह हुआ कि समाज में खरीद-फ़रोख़्त करनेवालों की संख्या कम होने लगी। बढ़ते हुए आविष्कार और बढ़ती हुई बेकारी से समाज में पैदावार अधिक और खपत कम होने लगी। इससे पैदावार को कम करने के लिये और अधिक आदमियों को बेकार करना पड़ा। परिणाम में खरीदनेवालों की तादाद और भी कम होगई। इस प्रकार आर्थिक संकट का एक भँवर पैदा हो जाता है जिसमें पैदावार कम करने के लिये लोगों को काम से अलग कर बेकार किया जाता है और यह बेकार हुए लोग समाज में खपत को घटा कर पैदावार को और भी कम करने के लिये मजबूर करते हैं जिससे बेकारी और अधिक बढ़ती है।

लेकिन यह विधान आरम्भ हुआ था व्यक्तिगत स्वतंत्रता से मुनाफ़ा कमाने की स्वतंत्रता और अपने परिश्रम को बेचने की

स्वतंत्रता पर । इससे समाज में पैदावार के बढ़ने में खूब सहायता मिली परन्तु अब ऐसी अवस्था आ गई है कि मुनाफा कमाने की स्वतंत्रता पैदावार को घटा रही है और बेकारी को बढ़ा रही है । समाज के विकास में अड़चन आ गई है और यह अड़चन मुनाफा कमाने के आधार पर चलने वाली पूँजीवादी प्रणाली ने अपने मार्ग में स्वयं उत्पन्न कर ली है । इसलिये अब एक नये विधान की आवश्यकता अनुभव हो रही है । मार्क्सवाद समाज के इतिहास को इसी रूप में देखता है । मार्क्सवाद इतिहास का क्रमवाद (Thesis) प्रतिवाद (Antithesis) और समन्वय (Synthesis) अर्थात् एक स्थिति के आरम्भ होकर बढ़ने, और उसमें विरोध उत्पन्न होकर फिर उनमें समन्वय होते रहने के क्रम में ही देखता है ।

भौतिकवाद

समाज के संगठन में उसकी विचारधारा का विशेष महत्व रहता है । जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, मनुष्य की परिस्थितियाँ और उसके निर्वाह के ढंग उसके विचारों का एक खास तरीके पर ढाल देते हैं । विचारों की यह प्रवृत्ति, समाज की कल्पना, उसकी दृष्टि में उचित-अनुचित और विचारों पर प्रभाव डाल कर उसके आदर्श और कार्यक्रम को निश्चित करती है । समाज के लिये क्या उचित-अनुचित और सम्भव-असम्भव है, इस निर्णय में समाज का दर्शन या विचार क्रम का बहुत महत्वपूर्ण स्थान रहता है । मनुष्य और उसके समाज के मार्ग का निश्चय विचार करते हैं या परिस्थितियाँ, यह प्रश्न महत्वपूर्ण दार्शनिकों को बहुत समय तक परेशान करता रहा है । जो लोग मनुष्य और उसके समाज को संसार से परे एक शक्ति, ब्रह्म या खुदा की रचना समझते हैं ; उनकी दृष्टि में इस संसार का क्रम एक निश्चित वस्तु है ; जिसमें

मनुष्य की शक्ति भगवान की इच्छा के बिना उलटफेर नहीं कर सकती । मनुष्य की इच्छा और बुद्धि भी इन लोगों के विचार में भगवान् की प्रेरणा के ही अनुकूल होती है । ऐसे लोगों की दृष्टि में यह सम्पूर्ण संसार मिथ्या-भ्रम और नष्ट हो जाने वाला है । सत्य है, केवल भगवान् । संसार से बन्धन तुड़ाकर उस ब्रह्म को प्राप्त करना ही उनके जीवन का लक्ष्य है । संसार में अपनी अवस्था सुधारने का यत्न करना उनकी दृष्टि में अपने आपको भ्रम में डालना है । इस दृष्टि से मनुष्य की सम्पूर्ण उन्नति, अवनति, सफलता, असफलता का उत्तरदायित्व भगवान पर रहता है ; मनुष्य और उसका समाज स्वयम् कुछ नहीं है । परन्तु इस प्रकार की आध्यात्मिक विचारधारा का समर्थन संसार का इतिहास नहीं करता । इसलिये मनुष्य ने गूढ़ चिन्तन द्वारा अपने सामर्थ्य और शक्ति का अनुमान करने की कोशिश आरम्भ की इस के लिये मनुष्य समाज ने जिस विचारक्रम या तर्क का विकास किया ; वहीं उसका दर्शनशास्त्र है ।

मार्क्सवाद का दर्शन आध्यात्मिकता के ठीक विपरीत है । वह मनुष्य को प्रकृति पर विजय प्राप्त कर अपने समाज का कार्यक्रम और मार्ग निश्चय कर सकने का विश्वास दिलाता है । वह संसार की रचना और विकास का आधार प्रकृति को ही मानता है । प्रकृति के अलावा किसी आत्मा या आध्यात्मिक शक्ति में वह विश्वास नहीं रखता, न उसकी जरूरत ही देखता है । मनुष्य और प्राणियों में मौजूद जीव और चेतन शक्ति को वह प्राकृतिक जगत से भिन्न या बाहर की चीज नहीं समझता और न मनुष्य जीवन का उद्देश्य मृत्यु के बाद इस संसार से परे ब्रह्म या किसी अन्य अवस्था को प्राप्त करना मानता है । वह इस संसार को भ्रम या ब्रह्म की लीला नहीं मानता । मार्क्सवाद की दृष्टि

में प्रकृति और संसार सत्य और वास्तविक हैं। इस प्रकृति को इन्द्रियों द्वारा समझा और अनुभव किया जा सकता है। इस प्रकृति में ही गति और चेतना (Motion and Consciousness) का विकास होता है। मनुष्य की चेतना (Consciousness) की रचना यदि संसार से ऊपर की किसी परिपूर्ण शक्ति द्वारा की जाती तो यह चेतना भी सदा से एक सी चली आती। परन्तु जीव-विज्ञान (Biology) और शरीर-विज्ञान (Physiology) में डार्विन (Darwin) और हैकल (Haeckel) द्वारा की गई खोज के आधार पर मार्क्सवाद यह निश्चय करता है कि मनुष्य की चेतना जिसे आध्यात्मवादी आत्मा कहते हैं, का शनैः शनैः विकास हुआ है। मनुष्य का विकास प्रकृति के रूप रहित (Formless) और गतिहीन (Motionless) पदार्थों से हुआ है। यह पदार्थ आरम्भ में अनुभवहीन थे। इन भौतिक (Matter) पदार्थों के विशेष परिस्थितियों में आने से उनमें ऐसे भौतिक और रासायनिक परिवर्तन (Physico-chemical changes) आये जिससे उनमें दूसरे पदार्थों को अपने अंदर हज्म करके स्वयं बढ़ने का गुण आया। इस अवस्था में प्राणियों का शरीर कुहासे के रूप में एक फिलमिल आकृतिहीन (Nebula) अवस्था में था। दूसरे पदार्थों को हज्म कर बढ़ने का गुण आजाने से इनमें इच्छा और अनुभव बहुत सूक्ष्म रूप में पैदा होजाता है; परन्तु इन जीव युक्त पदार्थों में गति न होने से इनकी इच्छा और अनुभव का ज्ञान स्थूल दृष्टि को नहीं हो सकता।

आध्यात्मवादी जीवों के शरीर की उत्पत्ति तो प्रकृति से स्वीकार कर लेते हैं; परन्तु मनुष्य में मौजूद चेतना और विचार को

ॐ इन्द्रियों द्वारा से अभिप्राय इन्द्रियों और मनुष्य द्वारा तैयार किये गये यंत्रों से भी है।

स्थूल प्रकृति का गुण नहीं मानते । चेतना को प्रकृति में न पाकर वे मनुष्य की चेतना को अप्राकृतिक शक्ति ब्रह्म या खुदा का अंग, या देन समझते हैं । परन्तु मार्क्सवाद इच्छा और चेतना को भी मनुष्य के मस्तिष्क का कार्य समझता है । मनुष्य के मस्तिष्क के तन्तुओं की क्रिया से ही इच्छा और चेतना पैदा होती है । मनुष्य का मस्तिष्क प्राकृतिक पदार्थों से ही बनता है; इसलिये मस्तिष्क के द्वारा होनेवाले कार्य भी प्रकृति से ही पैदा होते हैं ।

आध्यात्मवादी मनुष्य की इच्छा, विचार और कार्यों में अन्तर समझते हैं । इच्छा और विचारों को वह आत्मा (ईश्वरीय अंग) की क्रिया समझते हैं और प्रत्यक्ष कार्यों को शरीर की क्रिया समझते हैं । परन्तु मार्क्सवाद और विज्ञान इनमें इस प्रकार का भेद नहीं समझता । हाथ से लकड़ी को पकड़ना एक क्रिया है । हमें इस क्रिया का केवल वही भाग दिखाई देता है जो मनुष्य के शरीर के बाहर होता है—अर्थात् हाथ का हिलना । परन्तु यह क्रिया आरम्भ होती है मस्तिष्क के तन्तुओं से जहाँ पहले इच्छा या विचार पैदा होता है । मनुष्य का मस्तिष्क स्वयं प्रत्यक्ष क्रिया नहीं कर सकता । वह स्नायुओं द्वारा अंगों को हरकत देकर क्रिया करता है । मस्तिष्क की क्रिया, विचार और इच्छा अप्रत्यक्ष रहते हैं । इच्छा या विचार पैदा होने से लेकर लकड़ी को पकड़ लेने तक यह एक क्रिया है । जो मनुष्य के शरीर की बनावट के कारण कई भागों में बँट जाती है । मस्तिष्क हमारे शरीर का हेड-ऑफिस है ; जहाँ से सभी क्रियाओं का आरम्भ होता है । क्योंकि मस्तिष्क और दूसरी इन्द्रियाँ अलग अलग अंग हैं, उनमें प्रत्यक्ष भेद दिखाई देता है इसलिये इन के द्वारा की गई क्रियाएँ भी अलग अलग जान पड़ती हैं । विचार और चेतना भी भौतिक या शारीरिक क्रिया है । जिन मनुष्यों का मस्तिष्क जितना कम विक-

सित होता है वे उतना ही कम सोचते हैं। इसे हम यों नहीं कह सकते कि कम विकसित मस्तिष्क में कम आत्मा होती है। जिन जीवों के शरीर का विकास निचली अवस्था में होता है, उनमें मस्तिष्क का विकास भी कम होता है। जन्तु जगत में हम जीवों को विकास की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में देख पाते हैं। मनुष्यों के शरीर में अनेक अंग और उपअंग हैं, जैसे हाथ पैर, उनकी उँगलियाँ आदि। पशुओं के इससे कम अंग होते हैं और कुछ जीवों में नाक, आँख और मुँह के सिवा कुछ नहीं होता। शरीर में अंग जितने कम होंगे, मस्तिष्क का सम्बन्ध अंगों से उतना ही निकट का होगा। जीव-विज्ञान की खोज से यह पता चलता है कि जीवों की उस अवस्था में जब कि अंगों का विकास नहीं हो पाता और उनका शरीर केवल गोल मटोल पोटली सा रहता है, उस समय उनका मस्तिष्क शरीर के किसी खास भाग में एकत्र न होकर सम्पूर्ण शरीर की तह पर छाया रहता है। अपने शरीर की तह त्वचा से वे जो कोई काम करते हैं; उसमें तथा विचार में कोई अन्तर दिखाई नहीं पड़ता। इसी प्रकार यदि मनुष्य का मस्तिष्क भी उसके हाथ पैर में होता तो उसकी चेतना और इच्छा मनुष्य शरीर से होने वाली क्रिया से कोई पृथक् वस्तु न जान पड़ती। मार्क्सवाद कहता है कि मनुष्य की चेतना और इच्छा-शक्ति का विकास होता है परिस्थितियों और जीवन की आवश्यकताओं से और इस शरीर से परे ऐसी कोई वस्तु नहीं जो मनुष्य शरीर के समाप्त हो जाने के बाद भी फिरसे जीवन धारण करने के लिये शेष रह जाय या संक्षेप में जिसे आध्यात्मवादियों के शब्दों में आत्मा कहा जा सके।

बहुत सूक्ष्म रूप में जीवन की रक्षा और उसे बढ़ाने के प्रयत्नों से आरम्भ में उत्पन्न आकृतिरहित शरीर में गति का यत्न होने

लगा। इस प्रयत्न के कारण इस शरीर में इधर उधर विशेष वृद्धि होने लगी। बाद में यह बढ़े हुए भाग, शरीर के अंग बन गये। अंग बन जाने पर वह शरीर अपनी बढ़ती हुई परिस्थितियों में बढ़ता हुआ विकास पाने लगा और जीवों की अनेक अवस्थाओं से गुजरता हुआ, अनेक रूप धारण करता हुआ जिनमें से कुछ जल में उगने वाले वनस्पति^६ वने, कुछ स्थल पर उगने वाले वनस्पति, कुछ जल में रहने वाले जीव और कुछ स्थल पर रहने वाले ; कुछ पक्षी वने, कुछ रेंगने वाले। इन रेंगने वाले जीवों में विकास हुआ तो उनके छोटे छोटे पैर निकल आये^७ इस प्रकार अनेक शाखा प्रशाखा होकर जीव चौपायों के रूप में आये और बाद में चन्द्र, वनमानुस की योनि पार करते हुए आखिर मनुष्य का रूप धारण किया। मनुष्य भी विकास के अनेक दर्जों में पाये जाते हैं। जैसे बिलकुल जंगली जो बिलकुल नंगे रहकर अनपका भोजन खाते हैं, कुछ असभ्य हैं और कुछ सभ्य। मनुष्य नाम का यह प्राणी लाखों वर्षों में इन सब योनियों से जब गुजरा तब उसकी चेतना (Consciousness) वृद्धि और आत्मा (Soul) आज जैसी अवस्था में नहीं थी। उसका शनैः शनैः विकास हुआ है और इस विकास में उसकी परिस्थितियों का प्रभाव पड़ा है। किसी अलौकिक-संसार से बाहर की—शक्ति का प्रभाव विज्ञान, मनुष्य की चेतना, वृद्धि या आत्मा^८ पर नहीं

^६ जीव का उद्भव पहले जल में ही हुआ।

^७ साँप के पैर नहीं होते; कनखजूरे के होते हैं।

^८ आध्यात्मवादी आत्मा को चेतना और वृद्धि से पृथक् वस्तु मानते हैं परन्तु विज्ञान की खोज में चेतना और वृद्धि से परे कोई वस्तु नहीं। मार्क्सवादी आत्मा के विश्वास को केवल मनुष्य का अभ्यास या संस्कार समझते हैं।

देख पाता । परिस्थितियों के जो प्रभाव चेतना, बुद्धि, और आत्मा का विकास कर सकते हैं, वे उसकी सृष्टि भी कर सकते हैं । इस प्रकार मार्क्सवाद का दर्शनशास्त्र नितान्त रूप से भौतिकवाद (Materialism) की नींव पर कायम है ।

मार्क्सवाद और आध्यात्म

कुछ आध्यात्मवादी मार्क्सवाद के अर्थशास्त्र संबंधी सिद्धान्तों और कार्यक्रम में तो विश्वास करते हैं परन्तु मार्क्सवाद के दर्शन—भौतिकवाद, अनात्मवाद और निरोश्वरवाद में विश्वास नहीं करते । मार्क्सवाद इस प्रकार के दुरंगे ढंग को अवैज्ञानिक समझता है । इसके दो कारण हैं—प्रथम, जब आत्मा और परमात्मा का अस्तित्व विज्ञान और तर्क द्वारा सिद्ध नहीं होता तो उस पर विश्वास क्यों किया जाय ? यह कहना कि आत्मा और ईश्वर इन्द्रियों का विषय नहीं, अनुभव का विषय है, मार्क्सवादियों की दृष्टि में केवल अन्धविश्वास है । अनुभव तो इन्द्रियों के द्वारा ही होता है फिर इन्द्रियाँ विज्ञान की सहायता से आत्मा और परमात्मा का निश्चय क्यों नहीं कर पाती । मार्क्सवाद की नजर में आत्मा-परमात्मा भूत-प्रेत और काल्पनिक वस्तुओं की तरह ही विश्वास की वस्तु हैं ।

आध्यात्मवादियों का कहना है कि आत्मा परमात्मा पर विश्वास रखने से मनुष्य अपने सामने एक महान् और ऊँचे आदर्श को रखकर महान् शक्ति का आश्रय पा सकता है और एक ऊँचे मार्ग पर जा सकता है । परन्तु मार्क्सवाद कहता है कि जो शक्ति वास्तव में है ही नहीं, वह मनुष्य को किस प्रकार ऊँचा उठा सकती है और आश्रय दे सकती है । उससे मिलनेवाला आश्रय केवल मिथ्या विश्वास होगा । दूसरी उपयोगिता आत्मा परमात्मा पर विश्वास की समझी जाती है कि यह विश्वास

मनुष्य को धर्म और न्याय के मार्ग पर रखता है। मार्क्सवाद के सिद्धान्तों के अनुसार धर्म, कर्तव्य और न्याय परिस्थितियों के अनुसार बदलते रहते हैं। परन्तु आध्यात्मवादियों के विचार में आत्मा परमात्मा कभी नहीं बदलते, इनके द्वारा निर्देशित धर्म और न्याय भी नहीं बदलता। इसलिये परिवर्तन के मार्ग पर चलते हुए समाज को आध्यात्मिकता सदा पीछे की ओर घसीटती है। अपनी इस बात की पुष्टि में मार्क्सवादी इतिहास द्वारा यह सिद्ध करते हैं कि धर्म विश्वास ने सदा ही नवीन विचारों का विरोध कर प्राचीन शासन, विश्वास और पद्धति की सहायता की है।

आत्मा परमात्मा पर विश्वास (आध्यात्मिकता) को विज्ञान और तर्क की कसौटी पर पूरा न उतरते देखकर भी अनेक विचारक परमात्मा और परलोक के भय से मनुष्य को नेकी की राह पर चलाने के लिये उपयोगी समझते हैं। इस प्रकार के विचारों को फ्रांस के प्रसिद्ध क्रान्तिकारी लेखक वोल्टेयर ने स्पष्ट शब्दों में यों कहा था—“यदि परमेश्वर नहीं है तो हमें स्वयं परमेश्वर गढ़ लेना चाहिए क्योंकि उसका भय मनुष्य को उचित मार्ग पर चलाने में सहायक होता है।” मार्क्सवाद इस प्रकार के काल्पनिक भय में लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक देखता है। उसका कहना है कि काल्पनिक भगवान् के भय से यदि मनुष्य को न्याय के मार्ग पर चलाया जा सकता है तो काल्पनिक भय के आधार पर मनुष्य को यह भी समझाया जा सकता है कि समाज की सम्पन्न और मालिक श्रेणियों को भगवान् ने गरीबों और साधनहीनों पर शासन करने के लिये और गरीबों को शासक श्रेणियों की सेवा करने के लिये ही बनाया है और इस क्रायदे को उलटना भगवान की इच्छा या आज्ञा के विरुद्ध है और पाप है। इतिहास इस बात का गवाह है—कि आध्यात्मिकता ने सदा से

यह उपदेश दिया है कि भगवान की इच्छा और न्याय से समाज में मालिक नौकर और राजा प्रजा का विधान बना है और नौकर और प्रजा को चाहिए कि मालिक और राजा को अपना पिता, स्वामी और रक्षक मानकर उसकी सेवा और आज्ञा का पालन करें। राजा और मालिक के प्रति विद्रोह करना सदा पाप और ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध बताया गया। यदि मनुष्य-समाज भगवान् की आज्ञा को स्वीकार कर अपनी अवस्था से सन्तुष्ट रह कर, अपनी अवस्था में परिवर्तन करने की चेष्टा न करता तो मनुष्य-समाज के इतिहास में न कभी विकास होता और न उसकी कुछ उन्नति।

इतिहास की दृष्टि से आध्यात्मिकता सदा बदलती रही है और उसे मनुष्य के मस्तिष्क ने ही पैदा किया है। ऐसी अवस्था में मनुष्य के मस्तिष्क को आध्यात्मिकता का दास बना देना इतिहास के साथ अत्याचार करना—सत्य को छिपाना और मनुष्य की शक्ति और विकास पर वनावटों प्रतिबन्ध लगाना है। आध्यात्मिकता और धर्म विश्वास मनुष्य की कई पीढ़ी पहले के ज्ञान और अनुभव की उपज है। आज जब समाज कहीं अधिक ज्ञान और अनुभव प्राप्त कर चुका है, पीढ़ियों पूर्व के बंधन उस पर लादना मार्क्सवाद की दृष्टि में मनुष्य द्वारा की गई उन्नति को अस्वीकार करना और कई पीढ़ी पीछे ले जाना है।

आध्यात्मिकता के सहारे ऊँचे आदर्श को प्राप्त करने की चेष्टा भी मार्क्सवाद की दृष्टि में ठीक नहीं; क्योंकि अपने ऊपर सदा एक

इतिहास यह बताता है कि मनुष्य पहले वृक्षों, पहाड़ों और नदियों की पूजा करता था, अनेक जातियाँ अब भी ऐसा ही करती हैं। इसके बाद वह देवताओं की पूजा करने लगा और उसके बाद एक निराकार निर्गुण भगवान की पूजा। ज्यों ज्यों मनुष्य का ज्ञान बढ़ने लगा; त्यों त्यों उसके भगवान के गुण भी बढ़ने और बदलने लगे।

बड़ी शक्ति का विश्वास, जो मनुष्य की सफलता असफलता की मालिक है, जिसके सामने मनुष्य को अपनी बुद्धि और शक्ति की तुच्छता स्वीकार करनी ही चाहिये, मनुष्य के आत्मविश्वास, महात्वाकांक्षा और उन्नति की सम्भावना पर रोक लगा देती है। मार्क्सवाद मनुष्य की उन्नति की कोई सीमा नहीं स्वीकार करता और न किसी लक्ष्य को अन्तिम आदर्श स्वीकार करता है। वह विश्वास करता है कि मनुष्य और उसका समाज उन्नति कर जिस अवस्था को पहुँच जाता है वहाँ उसके लिये आगे उन्नति करने का मार्ग खुल जाता है।

आध्यात्मवादी मनुष्य की आत्मा या मन को शरीर से परे एक सूक्ष्म वस्तु समझते हैं जो संसार से परे कभी नष्ट न होने वाली शक्ति का अंग है।

मार्क्सवाद मनुष्य की बुद्धि, चेतनता या मन (जिसे आध्यात्मवादी आत्मा कहते हैं) को भौतिक पदार्थों (Matter) से बना हुआ मानता है, जिसकी प्रवृत्ति और गति समाज के संस्कारों के अनुसार होती है। दर्शनशास्त्र के अध्ययन और चिन्तन का प्रयोजन मार्क्सवादियों की दृष्टि में सिर्फ यह जानना ही नहीं कि मनुष्य और संसार की स्थिति क्या है, बल्कि यह जानना भी है कि उसके लिये सब से अधिक लाभदायक मार्ग कौन है ?

इतिहास का आर्थिक आधार

(Economic interpretation of History)

मार्क्सवाद के अनुसार प्राणियों के जीवन में सबसे अधिक महत्व है जीवन रक्षा के प्रयत्नों का। मनुष्य भी इस नियम

आध्यात्मवादी आत्मा और मन को भी पृथक् पृथक् समझते हैं। मन उनके विचार में प्रलोभन और अनुचित मार्ग की ओर जाता है और आत्मा उसका नियंत्रण करता है।

से बरी नहीं है। मनुष्य और उसके समाज का सम्पूर्ण व्यवहार जीवन रक्षा के प्रयत्नों से ही निश्चित होता है। जीवन निर्वाह के संगठित काम को पूरा करने के लिये समाज में व्यक्तियों को भिन्न भिन्न काम करने पड़ते हैं। एक तरह के कामों को करने वाले व्यक्ति एक ही अवस्था में रहते हैं। उनकी स्थिति में समानता आजाती है, उनके हित एक से हो जाते हैं और वह लोग एक श्रेणी (Class) का रूप धारण कर लेते हैं। सम्पूर्ण समाज पैदावार करने के कार्य में अपने भाग, सम्बन्ध और कार्य के विचार से श्रेणियों में बँट जाता है। समाज में पैदावार के काम में सब श्रेणियाँ भाग लेती हैं परन्तु इन श्रेणियों के हित आपस में एक दूसरे के विरुद्ध हो जाते हैं। अर्थात् सब श्रेणियों को समान रूप से परिश्रम न करना पड़े और समाज के परिश्रम से प्राप्त हुए पदार्थ भी सब श्रेणियों को समान रूप से न मिलें। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि कुछ श्रेणियाँ दूसरी श्रेणियों के परिश्रम से लाभ उठाने लगे। ऐसी अवस्था में समाज की इन श्रेणियों में संघर्ष पैदा हो जाता है। समाज के दायरे में मौजूद इन श्रेणियों का परस्पर संघर्ष ही मनुष्य समाज का इतिहास है। यह संघर्ष ही मनुष्य समाज को नये विधानों की ओर ले जाता है और समय समय पर समाज के रूप को बदलता रहता है। समाज को इन श्रेणियों में बँटने का कारण रहता है मनुष्य का आर्थिक अर्थात् मनुष्य का अपने जीवन की रक्षा, पोषण और वृद्धि का प्रयत्न; इसलिये मार्क्सवाद मनुष्य के इतिहास को आर्थिक नींव पर कायम देखता है।

समाज के इतिहास का आधार आर्थिक है, इसका अर्थ यह नहीं कि मनुष्य जो कुछ करता है वह धन या द्रव्य की प्राप्ति के उद्देश्य से ही करता है। धन और द्रव्य का महत्व मनुष्य की

दृष्टि में होने का कारण यह है कि वह सामाजिक परिस्थितियों के कारण जीवन निर्वाह का सबसे सरल साधन बन गया है। मार्क्सवाद जब कहता है कि इतिहास का आधार आर्थिक है, तो उसका तात्पर्य होता है कि इतिहास का आधार जीवन के लिये संघर्ष है। जीवन में संघर्ष होता है, जीवन के उपायों के लिये। जीवन के उपायों को ही अर्थ कहते हैं। जीवन के उपायों में वे सब वस्तुएँ आ जाती हैं जिनसे मनुष्य समाज को संतोष और तृप्ति होती है, यह तृप्ति चाहे शारीरिक इच्छा की हो या मानसिक। इसलिये जीवन में मनुष्य या समाज जो कुछ भी करता है, वह सब 'अर्थ' के लिये।

अर्थ शब्द को जब हम संकुचित मायने में लेते हैं तो इसका मतलब हो जाता है; धन-द्रव्य या जीवन चलाने के उपाय। अर्थ का यह माइना मान लेने से अनेक शंकाएँ की जा सकती हैं। कहा जायगा—मनुष्य वासना में अन्धा होकर या प्रेम की भावना से सब कुछ बलिदान कर देता है। हम मनुष्यों को शौक के लिये बहुत कष्ट उठाते देखते हैं और बहुत कुछ खर्च करते भी देखते हैं। हम न्याय के लिये भी मनुष्यों को अपनी जान तक कुर्बान करते देखते हैं, क्या इन सब बातों का आधार आर्थिक है ?

मार्क्सवाद इन सब बातों का आधार आर्थिक ही समझता है। वासना या प्रेम के लिये कुछ देना या कुर्बान करना अपने संतोष और तृप्ति के लिये ही है। मनुष्य चाहे अपने परिश्रम से कमाया धन देदे या अपनी जान देदे, सब कुछ अपने संतोष के लिये ही। संतोष और तृप्ति चाहे वह शरीर की, मन की या विश्वास की हो, एक ही बात है।

जब मनुष्य न्याय के पक्ष और अन्याय के विरोध में प्रयत्न करता है तब भी उसका उद्देश्य स्वार्थ होता है, यह बात सुनने

में विचित्र मालूम होती है। परन्तु मार्क्सवाद की दृष्टि में बात यही है। मार्क्सवाद की दृष्टि में सिद्धान्त या नियम व्यक्तियों के कार्यों और दृष्टिकोण से नहीं, बल्कि समाज और श्रेणियों के कार्यों और दृष्टिकोण से तय होते हैं।

रोजमर्रा और बोलचाल की भाषा में स्वार्थ शब्द खुदगर्जी, दूसरे के हानि लाभ की परवाह न कर अपना ही भला करने के अर्थ में आता है। परन्तु अर्थशास्त्र और मार्क्सवाद के चर्चा में स्वार्थ शब्द का अर्थ होता है जीवन की रक्षा और उन्नति के उपाय। मार्क्सवाद अपने कार्यक्रम में एक व्यक्ति को नहीं बल्कि समाज के सब व्यक्तियों के हित को महत्व देता है इसलिये मार्क्सवाद में स्वार्थ का अभिप्राय होता है, श्रेणी का हित या समाज का हित। जब हम कहते हैं कि व्यक्ति और श्रेणी का व्यवहार स्वार्थ की भावना से निश्चित होता है, तो यहाँ स्वार्थ का अभिप्राय व्यक्ति से न होकर श्रेणी और समाज से ही रहता है। इस कारण मार्क्सवाद कहता है—न्याय और परोपकार में भी स्वार्थ की भावना रहती है। जब मनुष्य समाज में न्याय के लिये प्रयत्न करता है या त्याग करता है, तो उसका अभिप्राय होता है कि मनुष्य समाज में व्यवस्था कायम रहे। मनुष्य की विवेक बुद्धि, दूरदर्शिता और आत्मरक्षा की भावना यह जानती है कि समाज में व्यवस्था और तरोक्ता न रहने से समाज का नाश हो जायगा और उस नाश से व्यक्ति भी नहीं बच सकेगा। समाज की रक्षा में ही व्यक्ति की रक्षा है, इस बात को सभी चतुर और बुद्धिमान व्यक्ति समझते हैं। वे अपने क्षणिक स्वार्थ की अपेक्षा समाज के स्वार्थ की ओर अधिक ध्यान देते हैं, क्योंकि उसी से उनका अपना और उनके परिवार का भला है; जिसके बिना उनका जीवन नहीं चल सकता। केवल अपने ही हित की बात की चिन्ता वे ही लोग करते हैं

जिनका मस्तिष्क अभी पूर्णरूप से विकसित नहीं हो पाया । जंगल के जीवों में भी हम देखते हैं कि बुद्धि के विचार से जो जीव उच्च कोटि के हैं उनमें सामाजिकता का भाव अधिक पाया जाता है और जो जीव निचले दर्जे के होते हैं, उनमें सामाजिक भावना कम पाई जाती है ।

न्याय की भावना की नींव स्वार्थ पर क़ायम रहती है, इस बात को समझना हो तो हमें यह देखना होगा कि भिन्न भिन्न समाजों और समयों में न्याय का रूप क्या रहा है ? प्राचीन भारत-वर्ष में शूद्रों का विद्या पढ़ना अन्याय था । भारत में एक पुरुष का दो पत्नियाँ रखना न्याय है परन्तु योरुप में यह अन्याय है । प्राचीन काल में एक आदमी को खरीद कर सारी आयु उससे पशु की तरह काम लेना न्याय था परन्तु आज ऐसा करना अन्याय है । भारत में विधवा का सती हो जाना महापुण्य था परन्तु आज वह अपराध है । न्याय क्या है ? इस बात का निर्णय रहता है उन लोगों के फैसले पर ; जिनके हाथ में शक्ति रहती है । समाज में शक्ति उन लोगों के हाथ में रहती है, जिनकी इच्छा के मुताबिक दूसरों को अपना जीवन निर्वाह करना पड़े या कहिये जिस श्रेणी के हाथ में पैदावार के साधन हों । पैदावार के साधनों की मालिक श्रेणी—जिन्हें साधारण बोलचाल की भाषा में अमीर श्रेणी या शासक श्रेणी कहते हैं—सदा इस बात का निश्चय करती है कि न्याय और अन्याय क्या है ? जिस क़ायदे या क़ानून से इस श्रेणी के हितों की रक्षा हो, इनके हाथ में शक्ति बनी रहे, उसी तरीके और क़ायदे पर वे समाज को चलाना चाहते हैं और उसी क़ायदे और तरीके को वे न्याय बताते हैं ।

पूँजीवादी समाज में न्याय अन्याय का निश्चय पूँजीपति श्रेणी और उसके सहायक करते हैं । ऐसे समाज में पूँजी और सम्पत्ति

पर मालिक के कच्चे की रक्षा करना जरूरी हो जाता है। पूँजीवादी समाज में किसी व्यक्ति की पूँजी और सम्पत्ति को छीनना बड़ा भारी अपराध है। इसके साथ ही इस समाज में मुनाफ़ा कमाकर पूँजी को बढ़ाने का अधिकार होना भी जरूरी है। इसलिये व्यक्ति को अधिकार है कि कम मूल्य में सौदा खरीदकर खूब अधिक मूल्य में बेच सके, किसी व्यक्ति को नौकर रखकर उससे सौ रुपये का काम कराकर उसे पचास रुपये या कम तनख्वाह दे सके। ऐसे समाज में क़ानून बनाने के लिये प्रतिनिधि चुनने का अधिकार भी उन लोगों को दिया जाता है जिनके पास कुछ सम्पत्ति हो, जो काफ़ी लगान या टैक्स देते हों। इसके विरुद्ध रूस जैसे देश में जहाँ पूँजीवादी प्रणाली नहीं है, क़ानून बनाने वाले प्रतिनिधि चुनने के लिये राय देने के अधिकार पर कोई रोक नहीं। हर एक आदमी जो बालिग़ हो, राय दे सकता है। रूस में किसी व्यक्ति द्वारा मुनाफ़ा कमाकर पूँजीपति बन जाना और पूँजी के बल से दूसरों से मेहनत कराकर उस मेहनत का भाग स्वयं रख कर मेहनत करने वाले को उसकी मेहनत का मूल्य कम देना, चोरी या अधराध समझा जाता है। ऐसा करने वाले आदमी को जेल की सज़ा मिलती है। पूँजीवादी देशों में पूँजीपति श्रेणी के हित की बात न्याय है; रूस में मेहनत करने वालों के हित की बात न्याय है। जब मनुष्य समाज मुख्यतः खेती की उपज पर निर्वाह करता था, उस समय भूमि के मालिकों, सरदारों और जागीरदारों के स्वार्थ के अनुसार न्याय की धारणा निश्चित होती थी; उस समय राजा और सरदार ही राज्य करते थे।

६ भारत के शासन विधान में प्रान्तीय असेम्बलियों के प्रतिनिधि चुनने का अधिकार केवल १०% जनता को है।

मार्क्सवाद के अनुसार आर्थिक परिस्थितियाँ और आर्थिक उद्देश्य से किये जाने वाले प्रयत्न ही समाज के संगठन, विचारों और शासन का रूप निश्चित करते हैं। पूँजीवादी प्रणाली या प्राचीन विचारों में विश्वास रखने वाले अनेक ऐतिहासिक आर्थिक विचार को समाज के विकास और इतिहास का आधार मानने में एतराज करते हैं। उनका कहना है कि आर्थिक और भौतिक परिस्थितियों को ही मनुष्यों के सब कार्यों का आधार मान लेने से मनुष्य के स्वतंत्रतापूर्वक अपने भरोसे पर काम करने का अवसर कहीं नहीं रह जाता। परन्तु मार्क्सवाद आर्थिक परिस्थितियों को भाग्य की बात नहीं समझता। आर्थिक परिस्थितियों के कारण पैदा हो जाने वाली अड़चनों को दूर करने के लिये मनुष्य जो विचार और कार्य करता है, मार्क्सवादी उसे भी आर्थिक परिस्थितियों का ही अंग समझते हैं। वे समाज के विकास के लिये यह आवश्यक समझते हैं कि समाज की बड़ी श्रेणियों के सन्मुख आर्थिक (जीवन निर्वाह सम्बन्धी) कठिनाइयाँ आयेँ और यह श्रेणियाँ इन कठिनाइयाँ को दूर करने के लिये विचार और कार्य करें। इस प्रकार मार्क्सवाद की विचारधारा में मनुष्य के अपने प्रयत्नों का महत्व उसके विकास में कम नहीं, बल्कि और भी अधिक हो जाता है।

सरकार

विद्वान् अप्लेटू (Plato) ने राजनीति के विषय में लिखा है—“मनुष्यों की प्रकृति जिन सिद्धान्तों के अनुसार काम करती है, उन्हीं सिद्धान्तों पर उसकी राजनीति क़ायम होती है।” राजनीति की यह व्याख्या बहुत व्यापक है। इसे किसी भी प्रकार के सिद्धान्तों के समर्थन में व्यवहार किया जा सकता है। जो भी हो, मनुष्य जंगली अवस्था में हो या सभ्य अवस्था में, उसके

समाज में किसी न किसी रूप में शासन अवश्य मौजूद रहता है। समाज में शासन सदा रहना चाहिए या नहीं इस विषय में मतभेद है। अराजकतावादी (Anarchists) लोग कहते हैं—शासन का कोई भी रूप हो वह मनुष्य की स्वतंत्रता पर बन्धन है और उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता।

जो विचारक शासन की उपयोगिता को स्वीकार करते हैं, वे भी इस विषय में मतभेद रखते हैं कि शासन का रूप क्या होना चाहिये। शासन का उद्देश्य है—सम्पूर्ण समाज का कल्याण और उसके विकास के लिये अवसर पैदा करना। इस विषय में तो सभी लोग सहमत हैं, परन्तु सम्पूर्ण समाज का कल्याण किस प्रकार हो सकता है, इस विषय में अपने अपने सिद्धान्तों और विचारों के अनुसार मतभेद रहता है।

समाज में शासन के अनेक रूप भिन्न-भिन्न समयों में दिखाई पड़ते हैं। मार्क्सवाद के विचार में शासन का रूप और प्रकार किसी समाज में मौजूद उत्पत्ति के साधनों और श्रेणियों के आर्थिक सम्बन्धों के आधार पर होता है। हमें मार्क्सवाद के सिद्धान्तों की दूसरे सिद्धान्तों में तुलना करनी है इसलिये कुछ चर्चा दूसरे सिद्धान्तों की भी करना ठीक होगा। सरकार के सम्बन्ध में प्रचलित अनेक सिद्धान्तों—राजसत्ता (Monarchy) अमीर-शाही (Aristocracy) प्रजातंत्र (Republic) के बारे में यह कहना कि कौन पहले समाज में आया और कौन बाद में कठिन है। इतिहास में उनके उद्गारण कहीं राजसत्ता के बाद प्रजातंत्र और कहीं प्रजातंत्र के बाद राजसत्ता और फिर प्रजातंत्र

अराजकता से अभिप्राय गड़बड़ नहीं परन्तु सामाजिक व्यवस्था के सम्बन्ध में एक विचारधारा से है, जिसमें व्यक्ति की स्वतंत्रता को मुख्य स्थान दिया जाता है।

के रूप में मिलते हैं। मार्क्सवाद का विचार है कि आर्थिक परिस्थितियाँ और श्रेणियों के आर्थिक सम्बन्धों के आधार पर यह रूप बदलते रहते हैं।

राजसत्ता का सिद्धान्त अर्थात् "राजा भगवान द्वारा दिये हुए अधिकार से मनुष्यों पर शासन करता है," (Divine Right of Kings) बहुत पुराना सिद्धान्त है। भारतीय शास्त्रों में भी इसका वर्णन है और दूसरे देशों में भी इसका प्रचार रहा है। परन्तु विकासवाद के सिद्धान्त के स्वीकार कर लिये जाने पर यह सिद्धान्त टिक न सका। राजा या सरदार को प्रजा पर शासन का अधिकार भगवान देते हैं, इस सिद्धान्त का बोलवाला उसी समय तक रहा, जब तक समाज मुख्यतः खेती पर ही निर्भर करता था और भूमि के मालिक राजा और सरदारों के हाथ में ही शक्ति थी।

व्यापार और कला-कौशल के युग में जब पुराने बन्धनों को तोड़ने की आवश्यकता हुई तो मनुष्य की समानता के अधिकारों का चर्चा हुआ और प्रजातंत्र के सिद्धान्त बने। प्रजातंत्र सिद्धान्तों के इस युग से लेकर आज तक अनेक सिद्धान्त सरकार के बारे में हमारे सामने आते हैं। जिस श्रेणी के हाथ में राज्यशक्ति (सरकार) आजाती है वह अपने मतलब को सिद्ध करने के लिये राजनैतिक शक्ति के सम्बन्ध में सिद्धान्त भी बना लेती है। जिस काल में योरुप में राजनैतिक शक्ति राजाओं, सामन्तों, सरदारों के हाथ से निकलकर व्यापारियों और मध्यम श्रेणी के लोगों के हाथ में आई, उसे न्यायपूर्ण सिद्ध करने के लिये प्रजातंत्रवादियों ने सामाजिक समझौतों के सिद्धान्त (Theory of Social

मनुष्य उत्तरोत्तर उन्नति करता है और यह उन्नति उसके सामाजिक संगठनों और सरकार के संगठन में भी होती है।

Contract) का आविष्कार किया। योरोप में इस सिद्धान्त का आविष्कार करनेवाला पहला विद्वान 'जीन जेकिस रूसू' (Jean Jaques Rousseau) फ्रांसिसी था, रूसू अपने समय का प्रबल क्रान्तिकारी था। उसे हम राजसत्ता और सामन्तशाही के विरुद्ध क्रान्ति का जन्मदाता कह सकते हैं। सामाजिक समझौते का सिद्धान्त है कि 'समाज में अशान्ति छीनाम्पटी से तंग आकर मनुष्यों ने सभी लोगों के कल्याण के विचार से यह समझौता कर लिया कि वे एक व्यवस्था क़ायम कर लें जिसमें सबके अधिकार समान हों, कोई किसी पर ज़्यादाती न करे'। रूसू और उसके अनुयायी प्रजातंत्रवादियों के मत में सरकार का जन्म इस प्रकार के समझौते से हुआ, यह विचार था मध्यकालीन प्रजातंत्र भावना का। इस सिद्धान्त का प्रयोजन था समाज को यह समझाना कि सरकार समाज के कल्याण के लिये एक आवश्यक संस्था है। जिसे समाज ने स्वयम पैदा किया है और स्वयम उसके हाथ में शक्ति दी है; इसलिये सरकार की आज्ञा का पालन करना भी उसका कर्तव्य है। इसके साथ ही यह भावना भी इस सिद्धान्त में छिपी थी कि समाज को अपनी सरकार का रूप निश्चित करने का अधिकार है।

यों तो इतिहास में प्रजातंत्र भावना का ज़िक्र ईसा के जन्म से पहले यूनान के प्रजातंत्र नागरिक शासन (Republican city States of Greece) में भी आता है। मनुस्मृति में भी सामाजिक समझौते का ज़िक्र इस रूप में मिलता है—'पहले मनुष्यों में मत्स्यन्याय था। मनुष्य आपस में एक दूसरे को मार-पीट, छीन कपट कर निर्वाह चलाते थे। समाज में अशान्ति और भय था। मनुष्यों ने आपस में समझौता कर व्यवस्था क़ायम की और मनु को राजा बनाया, परन्तु उस समय के प्रजातंत्र को हम यदि अमीरशाही कहें तो ठीक होगा क्योंकि शासन कार्य में

केवल नागरिक लोग भाग ले सकते थे, गुलाम नहीं और गुलामों की संख्या कभी कभी नागरिकों से कहीं अधिक होती थी ।

प्रजातंत्र और मनुष्य की समानता के विचारों ने फ्रांस की गज्य-क्रान्ति और लगभग उसी समय इंगलैण्ड में होने वाले राजनैतिक सुधार पर गहरा प्रभाव डाला । इसके पश्चात् राज्यशक्ति के संबंध में विचारों का विकास बहुत तेजी से हुआ । इन विचारों में जर्मन विद्वान् हेगेल (Hegel) का विशेष स्थान है । रूसू और जर्मन विद्वान् काण्ट (Kant) के सिद्धान्तों के विरुद्ध हेगेल समाज में व्यक्तिगत स्वतंत्रता और समाज की स्वाभाविक गति (Laissez faire) का समर्थन न कर राष्ट्र को व्यक्ति से ऊपर स्थान देकर राज्यशक्ति या सरकार को मनुष्य के चरम विकास और उन्नति का साधन बताता है । वह कहता है कि राष्ट्र और समाज राज्यशक्ति (सरकार) के संगठन के सहारे ही सशक्त होकर मनुष्य और उसके समाज के विकास और उन्नति के उद्देश्य को पूर्ण कर सकता है । इसलिये राज्य-शक्ति (सरकार) व्यक्ति से बहुत ऊपर है । हेगेल के इन विचारों की तह में हमें उन्नीसवीं सदी के अंत में योरुपीय राष्ट्रों की साम्राज्य कामना और परस्पर स्पर्धा और विरोध प्रकट होता दिखाई देता है । इस अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष में वही राष्ट्र सबसे अधिक सफल हो सकते थे, जो युद्ध के लिये दूसरों की अपेक्षा अधिक तैयार होते । हेगेल की यह विचारधारा (फिल्लासफी) जर्मनी को इसी संघर्ष के लिये तैयार कर रही थी । जर्मनी औद्योगिक रूप से उन्नत हो चुका था परन्तु उपनिवेश न पाकर तड़क रहा था । इसलिये जर्मनी के पूँजीवादियों के भाव राष्ट्रीय संघर्ष के लिये तैयारी के रूप में प्रकट हो रहे थे । जर्मनी में औद्योगिक विकास उस समय खूब पक चुका था । इंगलैण्ड और योरुप के सभी देशों में उस समय यही अवस्था थी । एक ओर पूँजीपति श्रेणियाँ

अपने देशों में अपने माल की खपत का अधिक अवसर न देखकर विदेश के बाजार और उपनिवेशों के लिये तड़प रहे थे दूसरी तरफ़ इन देशों के मजदूरों का शोषण सीमा पर पहुँच चुका था और इसके साथ ही मजदूर बड़ी संख्या में औद्योगिक नगरों और केन्द्रों में एकत्र होकर संगठित हो रहे थे, जिन्हें अपनी अवस्था और शक्ति का ज्ञान हो रहा था ।

मजदूर शासन

मार्क्स ने देखा यद्यपि पैदावार के साधन पूँजीपतियों के हाथ में हैं परन्तु समाज के पैदावार के काम में भाग लेने वाली मजदूर श्रेणी अपनी संख्या के विचार से समाज का बहुत बड़ा भाग होने के नाते सबसे बलवान है और उनकी अवस्था भी ऐसी हो रही है कि उसे सहन करना उनके लिये सम्भव नहीं । मार्क्स ने अनुभव किया कि पूँजीवाद के विकास में ऐसी अवस्था आगई है जिसके आगे विकास के लिये अधिक मैदान नहीं, वह समाज को संतुष्ट नहीं रख सकता । इसलिये समय आगया है कि पैदावार को मुनाफ़े के उद्देश्य से न किया जाकर समाज की आवश्यकता को पूर्ण करने के उद्देश्य से किया जाय । पैदावार का उद्देश्य बदलने के लिये यह भी जरूरी है कि पैदावार के इन साधनों को पूँजीपति श्रेणी के हाथ से लेकर पैदावार के लिये परिश्रम करनेवाली मजदूर श्रेणी के हाथ में दिया जाय और शासन की वागडोर (समाज-शासन) भी इस श्रेणी के ही हाथ में हो । तभी पैदावार का उद्देश्य मुनाफ़े से बदलकर समाज की जरूरत पूरा करना हो सकेगा ।

मार्क्सवाद के दृष्टिकोण से इतिहास में पैदावार के साधनों की स्वामी श्रेणी सदा शासन शक्ति को अपने हाथ में ले लेने में सफल होती आयी है और शक्ति हाथ में लेकर वह पैदावार के

साधनों पर अपना कब्जा दृढ़ करती आई है। पैदावार के साधनों पर कब्जा मजदूर करने के लिये ही भिन्न भिन्न समयों में भिन्न भिन्न श्रेणियाँ अलग अलग ढंग की न्याय व्यवस्था और क़ायदे क़ानून कायम करती आई हैं। इसलिये मजदूर श्रेणी का स्वामित्व पैदावार के साधनों पर क़ायम करने के लिये उनके हाथ में शासन-शक्ति होना जरूरी है। मजदूरों का शासन ठीक ढंग से क़ायम करने के लिये परिवर्तन काल में कुछ समय तक मजदूरों का निर्वाध शासन (Dictatorship of Proletariat) क़ायम करना जरूरी है।

मजदूरों का निर्वाध शासन मार्क्सवाद का उद्देश्य नहीं। यह है केवल एक साधन, ऐसी शासन व्यवस्था क़ायम करने का जिसमें किसी भी श्रेणी का शासन दूसरी श्रेणी पर न हो और कोई श्रेणी दूसरी श्रेणी का शोषण न कर सके। शोषण रहित अवस्था समाज में तभी सम्भव है जब समाज में श्रेणियों का अन्त हो जाय। आर्थिक दृष्टिकोण से इतिहास का अध्ययन करने पर हम देख पाते हैं कि विलकुल आदि अवस्था के सिवा, जब कि मनुष्य समाज में सम्पत्ति के आधार पर श्रेणियाँ नहीं बनी थीं, सदा ही चलवान श्रेणी द्वारा निर्बल श्रेणियों का शोषण होता रहा है। सरकार और शासन सदा चलवान श्रेणी के हाथ का हथियार बनकर शोषण के साधन का काम करती रही है। राज्य करने के दैवी-अधिकार की तो बात क्या राज्यशक्ति की स्थापना के लिये प्रजातंत्रवादियों के सामाजिक समझौते पर भी मार्क्सवाद विश्वास नहीं करता। सामाजिक समझौते का सिद्धान्त न तो इतिहास की दृष्टि से प्रमाणित हो सकता है न तर्क की दृष्टि से। सामाजिक

॥ निर्वाध या निरंकुश शासन—ऐसा शासन है जिस पर कोई रोक टोक न हो। Dictatorship.

समझौता केवल उसी समाज में सम्भव है, जिस समाज में निर्बल या बलवान श्रेणियाँ न हों, सभी लोग एक ही अवस्था में हों। जब समाज में कुछ लोग किन्हीं कारणों से अधिक बलवान हो जाते हैं और शेष लोग निर्बल, तब बलवान लोगों की आज्ञा और इच्छा और निर्बलों की पराधीनता ही समझौता होगा। इसे समझौता न कहकर बलवान श्रेणी का शासन कहना ही मार्क्सवाद की दृष्टि में अधिक उचित जँचता है। यदि समाज में श्रेणियाँ हैं तो उनके बनने का कारण उनकी आर्थिक असमानता के सिवा और क्या हो सकता है और जब आर्थिक असमानता है, तब फिर समझौते से समानता के व्यवहार की बात केवल मिथ्या विश्वास है।

शासन कायम करने के लिये शासक के हाथ में शक्ति होना आवश्यक है और वह शक्ति भी ऐसी, जिसका कि समाज में कोई दूसरी संगठित ताकत मुकाबिला न कर सके। इस प्रकार की शक्ति समाज की सबल श्रेणी के अलावा और किसके पास हो सकती है। कम से कम निर्बलों या शोषितों के पास वह शक्ति नहीं हो सकती। शासन का उद्देश्य रहता है समाज में जैसी व्यवस्था बन गई, उसे कायम रखना (Statusquo) कायम अवस्था की रक्षा का प्रयत्न वे ही लोग या श्रेणी करेंगी, जिसका कि कायम व्यवस्था या अवस्था में हित मिट्ट होना रहेगा या मतलब पूरा होता रहेगा। यदि सभी लोगों का हित किसी व्यवस्था या अवस्था में पूरा हो सके तो स्वयं ही व्यवस्था कायम रहेगी। शासन कायम करने का अर्थ यही है कि शासक श्रेणी को इस बात का निरंतर भय है कि जिस व्यवस्था को उन्होंने कायम किया है उसे तोड़ देने का यत्न किया जा रहा है या किया जा सकता है। शासक या बलवान श्रेणी जिस श्रेणी का शोषणकर

अपना मतलब पूरा करती है, उसकी बगावत का भय शासक श्रेणी को सदा बना रहता है। इसलिये शोपक या शासक श्रेणी नियम और व्यवस्था को ऐसा रूप देती है कि शोपितों के निकल भागने की गुँजाइश न रहे। मार्क्सवाद की दृष्टि में शासन शोपण का मुख्य साधन है।

मार्क्सवाद समाज के लिये ऐसे शासन को आदर्श समझता है, जिसमें किसी भी श्रेणी का शोपण न हो सके। शोपण केवल उसी श्रेणी का हो सकता है जो परिश्रम करती है। इस अवस्था में यदि परिश्रम करने वाली श्रेणी का ही शासन स्थापित हो जाय तो वह श्रेणी किसी दूसरी श्रेणी का शोपण नहीं कर सकेगी। इसी विचार से मार्क्सवाद समाज में शोपण का अन्त कर, समानता स्थापित करने के लिये मजदूर श्रेणी का शासन समाज में होना आवश्यक समझता है। मजदूर से अभिप्राय मार्क्सवाद में केवल हल, फावड़ा चलाने वाले लोगों से ही नहीं बल्कि वे सब लोग मजदूर श्रेणी में आ जाते हैं जो अपने परिश्रम की कमाई से अपना निर्वाह करते हैं चाहे वे किसी प्रकार जीवन व्यतीत करते हों। इस श्रेणी में किसान, मजदूर, क्लर्क, अध्यापक, नाटक के पात्र, गायक, चित्रकार, इंजीनियर, लेखक, डाक्टर यहाँ तक कि मिलों के मैनेजर आदि सभी पेशे के लोग आजाते हैं, जो समाज के लिये कोई काम करते हैं। मजदूर श्रेणी में केवल वे ही लोग नहीं आते, जो इस प्रकार के कार्य करते हैं जिनमें वे दूसरों से काम कराकर उसमें से अपना मुनाफ़ा बचाते हों। इस प्रकार मुनाफ़ा बचाने के कार्य के प्रबन्ध में चाहे कितना ही कठोर परिश्रम किया जाय, मार्क्सवाद की दृष्टि में वह दूसरों का शोपण ही कहलायगा और अपराध होगा। इस प्रकार के परिश्रम की तुलना मार्क्सवादी उस चोर या डाकू के परिश्रम से करते हैं, जो अँधेरी रात में

अत्यन्त कष्ट और खतरा सिर पर लेकर दूसरों का घर लूटने जाता है। मार्क्सवाद के अनुसार प्रजातंत्र में इस प्रकार के लोगों, जमीन्दार और पूँजीपतियों या पूँजी के हिस्सेदारों को नागरिक अधिकार नहीं दिये जा सकते।

मजदूर तानाशाही

निरंकुश शासन के लिये आजकल बोलचाल की भाषा में तानाशाही शब्द का व्यवहार होता है। तानाशाही की शक्ति किस श्रेणी के हाथ में है, इस विचार से तानाशाही का प्रयोग और प्रभाव अलग अलग प्रकार का होगा। यदि तानाशाही शक्ति शोषक श्रेणी के हाथ में है तो इसका अर्थ होगा—शोषितों का भयंकर दमन और उन्हें अपनी आवाज उठाने का कोई अवसर न होना। यदि तानाशाही की शक्ति शोषित श्रेणी के हाथ आ जाती है तो इसका मतलब होगा—उस श्रेणी का शोषण समाप्त हो गया है और उनका कठोर नियंत्रण इस ढंग का है कि शोषण करने वाली शक्तियों को—जिनके हाथ से सरकार की शक्ति मजदूर श्रेणी ने छीन ली है, अब किसी प्रकार भी शक्ति प्राप्त करने का अवसर नहीं रहा। हम ऊपर यह बात कह आये हैं कि मार्क्सवाद किसी भी प्रकार की तानाशाही का समर्थन नहीं करता परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि रूस में सन् १९१७ की किसान-मजदूर क्रान्ति के बाद रूसी क्रान्ति के नेता लेनिन ने मजदूरों की तानाशाही (Dictatorship of the Proletariat) का समर्थन किया और उस समय स्थापित रूस के समाजवादी शासन-विधान को अभिमानपूर्वक मजदूरों की तानाशाही का नाम दिया।

* लेनिन को मार्क्सवाद का सबसे बड़ा ज्ञाता समझा जाता है।

लेनिन का कहना था कि पूँजीपतियों के शासन को हटाकर हम समाजवाद स्थापित कर रहे हैं। यद्यपि हमने पूँजीपतियों के हाथ से शक्ति छीन ली है और मजदूरों की सरकार स्थापित कर दी है परन्तु अभी मजदूर सरकार की नींव मजबूत नहीं हो पाई है, पूँजीपति और जमीन्दार श्रेणियाँ और दूसरे वे लोग जो पूँजीवादी शासन काल में अधिकार और सम्पत्ति के प्रयोग का सुख भोगते रहे हैं, समाजवाद के विदेशी शत्रुओं की सहायता से हमारी मजदूर सरकार को असफल कर देने की कोशिश कर रहे हैं। इसलिये जब तक हमारी मजदूरों की सरकार की नींव दृढ़ नहीं हो जाती, हमें अपने पूँजीवादी शत्रुओं पर विशेष कड़ी नजर रखनी होगी और मजदूरों की तानाशाही स्थापित करनी होगी। जब हम समाजवाद की स्थापना पूर्ण रूप से कर लेंगे, इस तानाशाही की आवश्यकता न रहेगी। लेनिन के इस कथन के अनुसार १९३७ में रूस में प्रतिनिधि प्रजातंत्र की स्थापना कर दी गई।

तानाशाही एक अप्रिय शब्द है परन्तु अवस्था विशेष में इसका अर्थ उतना अप्रिय नहीं भी हो सकता है। तानाशाही या किसी भी सरकार में दमन, जुल्म या अत्याचार उन्हीं लोगों पर किया जाता है, जो लोग कायम शासन से संतुष्ट नहीं होते और जिनका शोषण किया जा रहा हो। प्रश्न उठता है कि मजदूरों की तानाशाही में दमन किसका हो सकता है। यह तो हम ऊपर देख चुके हैं, जब मजदूरों (स्वयं मेहनत करने वालों) का शासन होगा तो मेहनत करने वालों का शोषण नहीं हो सकता और जो लोग मेहनत नहीं करते—कुछ पैदा नहीं करते—उनका शोषण किया ही नहीं जा सकता। आर्थिक शोषण न होने पर भी मजदूर शासन में कुछ लोगों का दमन हो सकता है, या कहिये

उन्हें नागरिक अधिकारों से वंचित किया जा सकता है। परन्तु यह लोग कौन हो सकते हैं, इनकी संख्या कितनी हो सकती है और इन लोगों के दमन का कारण क्या हो सकता है, इन बातों पर भी हमें एक नज़र डालनी चाहिए।

किसी देश में या समाज में मजदूर शासन कायम हो जाने पर सभी लोगों के लिये यह आवश्यक होगा कि वे किसी न किसी रूप में समाज में अपने परिश्रम द्वारा कुछ न कुछ पैदावाद करें। ऐसी अवस्था में प्रजा का प्रत्येक व्यक्ति मजदूर भी होगा और शासक भी होगा। पूँजीवादी देशों में भी किसान-मजदूरों की संख्या ६८% या ६६% होती है; फिर मजदूर राज्य में तो उनकी संख्या १००% होगी। मजदूरी न करने वालों की संख्या हो सकता है हजारों में एक-आध हो। ऐसे आदमी यदि सम्पूर्ण समाज और देश की जनता की सम्मति और राय से कायम शासन को उखाड़कर अपने स्वार्थ के अनुकूल शासन कायम करने का यत्न करना चाहें तो उन्हें ऐसा करने की स्वतंत्रता देना क्या प्रजातंत्र के सिद्धान्तों और प्रजा के हित के अनुकूल होगा? यदि मजदूर शासन या समाजवादी शासन में कुछ व्यक्ति ऐसे हैं जो सम्पूर्ण जनता के लाभ के उद्देश्य से समाज की व्यवस्था में परिवर्तन लाना चाहते हैं, तो एक मजदूर होने के नाते अपने विचार प्रकट करने की उन्हें उतनी ही स्वतंत्रता है जितनी की किसी दूसरे मजदूर को; क्योंकि मजदूर-तंत्र या समाजवादी शासन में सभी नागरिकों के साधन और अधिकार एक समान हैं।

समाजवाद और कम्युनिज़्म

साम्यवाद और समाजवाद पर विचार करते समय हमने यह देखा था कि दोनों शब्दों से—यद्यपि एक ही भावना का परिचय मिलता है—परन्तु दोनों में बहुत अन्तर है। इसी प्रकार आज दिन

समाजवाद और कम्युनिज्म में अन्तर समझने की आवश्यकता आ पड़ी है। जिस प्रकार सोशलिज्म के लिये समाजवाद शब्द उपयुक्त शब्द है, उसी प्रकार कम्युनिज्म के लिये कोई उपयुक्त हिन्दी शब्द व्यवहार में नहीं आया। कम्युनिज्म के लिये प्रायः वर्गवाद शब्द का व्यवहार होता है परन्तु वर्ग शब्द का अर्थ है श्रेणी। कम्युनिज्म श्रेणी के शासन का समर्थन नहीं करता। वर्ग से यदि मनुष्य वर्ग का तात्पर्य हो तो यह वर्गवाद शब्द कम्युनिज्म के लिये ठीक है। वर्ग वर्गवाद का अर्थ मजदूर शासन होगा, जिसे कम्युनिस्ट लोग केवल समाजवाद स्थापित करने का साधन समझते हैं; अपना उद्देश्य नहीं समझते। कम्युनिज्म के लिये दूसरा शब्द समष्टिवाद भी प्रयोग में आता है। शब्दार्थ की दृष्टि से कम्युनिटी का अर्थ समष्टि है इसलिये यह शब्द अधिक अच्छा अनुवाद है। हम यहाँ कम्युनिस्ट शब्द का ही व्यवहार कर रहे हैं ताकि अर्थ में भ्रम होने की गुंजाइश न रहे। समाजवादी और कम्युनिस्ट दोनों ही अपने आपको मार्क्स के वैज्ञानिक सिद्धांतों के अनुयायी समझते हैं परन्तु दोनों के कार्यक्रम में भेद है ❀।

इन दोनों के कार्यक्रम के भेद को समझने से पहले मार्क्सवाद की कसौटी पर इन दोनों के भेद या सिद्धान्त भेद को समझ लेना उपयोगी होगा। समाजवाद समाज के आर्थिक और राजनैतिक संगठन की वह अवस्था है, जिसमें पैदावार के और बँटवारे के सभी साधन समाज की सम्पत्ति होंगे। किसी एक व्यक्ति को

❀ यहाँ समाजवादी से अभिप्राय हमारा भारतवर्ष के कांग्रेस समाजवादी दल से नहीं है। उनका मतभेद भारत के कम्युनिस्टों से सिद्धान्तों के सम्बन्ध में नहीं बल्कि इस देश की परिस्थितियों के सम्बन्ध में और अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट संघ की नीति के सम्बन्ध में है।

पैदावार के ऐसे साधनों का मालिक बनने का अधिकार न होगा जिन्हें उपयोग में लाने के लिये एक से अधिक आदमियों की शक्ति की जरूरत पड़े। कोई व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों को मेहनत या मजदूरी पर लगाकर, उनसे परिश्रम कराकर मुनाफ़ा लेने का हक़दार न होगा। कम्युनिज्म भी यही कहता है।

समाजवाद में समानता

समाजवाद या कम्युनिज्म मनुष्यमात्र के लिये समानता का दावा करते हैं। समानता के इस उद्देश्य को अनेक विचित्र तथा विकृत रूपों में पेश किया जाता है। समानता का अर्थ कुछ लोगों की दृष्टि में है, परिश्रम करने या न करने पर एकसा भोजन तथा दूसरी वस्तुयें मिलना। कुछ लोगों की राय में समानता का अर्थ है, व्यक्ति की योग्यता या उपयोगिता की परवाह न कर सबसे एकसा शारीरिक परिश्रम करवाना। समाजवादी शासन पर एतराज करनेवालों का कहना है कि इस प्रकार की व्यवस्था में अपनी शक्तिभर परिश्रम करने के लिये व्यक्ति को प्रोत्साहन कैसे मिलेगा? क्योंकि कोई व्यक्ति कठिन और जोखिम के काम करने के लिये तैयार होगा? मार्क्सवाद जिस समता को समाज के लिये आवश्यक समझता है, वह ऐसी नहीं।

निजी सम्पत्ति पर समाजवाद में अधिकार न होने का अर्थ यह नहीं कि कोई व्यक्ति तीन जोड़े मोज़े, बाइसिकल या खाना खाने के बर्तन आदि निजी व्यवहार की वस्तुयें नहीं रख सकता। इसका यह भी मतलब नहीं कि वे लोग जो समाज में उत्पत्ति के लिये कोई भी परिश्रम नहीं करते, जिसके पास कोई वस्तु देखें उससे आधी बटालें। समाजवाद की अवस्था का आधार समाज के लिये कुछ बहुत आवश्यक नियम हैं। पहली बात समाजवाद के लिये आवश्यक है, कि कोई भी व्यक्ति परिश्रम किये बिना न रह

सकेगा ॥ समाजवादी शासन प्रत्येक व्यक्ति के लिये कोई न कोई काम अवश्य देगा, बेकार कोई न रह सकेगा । सभी व्यक्तियों को इस बात का समान अधिकार होगा कि वे अपने आप को चाहे जिस काम पेशे या धन्धे के योग्य बनाने की कोशिश कर सकें । इसके लिये एक खास दर्जे तक शिक्षा का प्रबन्ध सभी व्यक्तियों के लिये सरकार करेगी । शिक्षा का प्रबन्ध सभी के लिये एकसा होगा । विशेषकार्य के लिये विशेष प्रकार की योग्यता दिखाने पर सरकार बिना किसी खर्चे के भोजन-वस्त्र की जिम्मेदारी लेकर व्यक्ति के लिये उस प्रकार की शिक्षा का प्रबन्ध करेगी । एक पेशे या काम में लगे रहने पर भी फालतू समय में दूसरे काम या पेशे की शिक्षा प्राप्त करने की सुविधा सबको होगी ।

कानून की रूढ़ और सिद्धान्त रूप से समाजवाद में समानता का अर्थ है—

अवसर की समानता—अवसर की समानता में जीवन निर्वाह के लिये प्रत्येक व्यक्ति को अवसर मिलना और प्रत्येक पेशे के लिये योग्यता प्राप्त करने के लिये समान अवसर होना दोनों ही बातें हैं ।

अपने परिश्रम का पूरा फल पा सकने की समानता—जब हम यह स्वीकार करते हैं कि हमारे मौजूदा समाज में सभी व्यक्ति एक समान परिश्रम न करते हैं और न करही सकते हैं और हम यह भी चाहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को उसकी मेहनत का फल पूरा मिले, तो हम यह आशा नहीं कर सकते कि सबको एकसा फल मिले । हम यह माँग जरूर कर सकते हैं, कि हरएक को वह काम करने का अवसर मिले जिसके कि वह योग्य है और जो

काम वह करे उसका फल भी उसे पूरा मिल जाय । प्रत्येक मनुष्य को अपने परिश्रम का पूरा परिणाम पा सकने का अवसर होना ही ऐसी समानता है, जिसे न्याय कहा जा सकता है । इसलिये मार्क्सवाद के अनुसार समाजवादी समानता का अर्थ है—

‘प्रत्येक व्यक्ति के लिये जीविका निर्वाह का समान अवसर होना और प्रत्येक व्यक्ति को अपने परिश्रम के फल पर समानरूप से अधिकार होना ।’ ❧

मार्क्सवाद के विरोधी आपत्ति करेंगे कि इस अवस्था में भी असमानता रहेगी ही ; परन्तु वह कैसी होगी ; इस बात को स्पष्ट करने के लिये मार्क्सवाद उनका ध्यान मौजूदा समाज में अनुभव होने वाली असमानता के कारणों की ओर दिलाता है । प्रथम तो समाजवाद में किसान और मजदूर पैदावार के साधनों के मालिक स्वयं होने के कारण जितना भी पैदा करेंगे, वह सब उनके ही उपयोग में आयेगा । इससे न केवल उनके भूखे और नंगे रहने का भय नहीं रहता, बल्कि इन किसानों और मजदूरों के परिश्रम का भाग छीनकर जो अपार वैभव पूँजीपति इकट्ठा कर लेते हैं ; वह भी इन्हीं मेहनत करने वाले लोगों के उपयोग में आयेगा । जब मजदूरों और किसानों को खर्च करने के लिये इतना अधिक धन मिलेगा तो उनकी खरीदने की ताकत बढ़ेगी और सभी व्यवसायों में काम करने वाले लोग और अधिक पदार्थ पैदा करेंगे और उन पदार्थों को उत्पन्न कर वे दूसरे पदार्थों को उत्पन्न करने वाले लोगों से विनिमय कर उपयोग के लिये बहुत अधिक पदार्थ पा सकेंगे । पूँजीवादियों के पास मजदूर

* “Equal opportunity for all. From every man according to his ability to every one according to his work.”

किसानों की मेहनत का जाने वाला बहुत बड़ा भाग नहीं जायेगा और किसान मजदूरों की अवस्था में उन्नति होगी। उदाहरणतः रूस के समाजवादी शासन की जितनी उन्नति हुई है, उसे पूर्ण उन्नति नहीं कहा जा सकता, परन्तु फिर भी समाजवादी शासन आरम्भ होने यानि ज़ार के समय से रूसी मजदूर की अवस्था तेरह गुणा अधिक अच्छी हो गई है और किसानों की अवस्था में इससे भी अधिक अन्तर आ गया है। ज़मीन्दार-किसान और पूँजीपति मजदूर का अन्तर मिट जाने के बाद भी ऊँचे पेशे वाले लोगों, उदाहरणतः इंजीनियर, डाक्टर, मैनेजर आदि का काम करनेवालों और दूसरे व्यक्तियों की अवस्था में अन्तर रह सकता है। इस अवस्था के अन्तर को भी हम बहुत घटता हुआ देखते हैं; जब मार्क्सवाद के आदर्श पर घटित समाजवाद की कल्पना करने की कोशिश करते हैं। हमारे समाज में बहुत से काम कठोर और अच्छे न मालूम होने वाले हैं और कुछ आसान और अच्छे मालूम होने वाले। परन्तु विचित्र बात यह है कि कठोर और अप्रिय काम करने पर परिश्रम का फल (मजदूरी) कम मिलता है और आसान और अच्छे मालूम होने वाले कामों में परिश्रम का फल (मजदूरी) अधिक मिलता है। पूँजीवादी समाज में खास खास मजदूरियों की दर या मोल इस बात से निश्चित होता है कि किसी काम में आवश्यकता कितने मजदूरों की है और उस काम में मजदूरी चाहने वाले मजदूरों की संख्या कितनी है। यदि जरूरत से कम आदमी काम करने वाले हैं तो मजदूरी या तनख्वाह अधिक मिलेगी और अगर मजदूरी चाहने वालों की तादाद ज्यादा है तो उन्हें मजदूरी कम मिलेगी। हमारे पूँजीवादी समाज का संगठन इस प्रकार का है कि ऊँचे दर्जे के कामों की योग्यता और शिक्षा पाने का अवसर बहुत कम

आदमियों को रहता है, इसलिये ऐसे काम की शिक्षा पाये व्यक्ति कम होने से उनकी मजदूरी ज्यादा रहती है।

मजदूर श्रेणी की बहुत बड़ी संख्या जरूरी शिक्षा और योग्यता प्राप्त न कर सकने के कारण इस बात के लिये मजबूर रहती है कि वह कठोर और कम मजदूरी के काम को करे; क्योंकि उनके लिये सिवा उसके दूसरा कोई काम है ही नहीं। समाजवादी शासन में जितने भी आदमी चाहेंगे ऊँचे दर्जे की शिक्षा और योग्यता प्राप्त कर सकेंगे, इसलिये मजदूरों को ऊँचे दर्जे के काम सीखने, करने का स्वतंत्रता रहेगी। योग्य होने पर भी निचले दर्जे का काम करने के लिये उन्हें मजबूर न होना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त समाजवादी शासन में मशीन का प्रयोग उन सब बातों के लिये होगा, जो कठोर हैं और अच्छे मालूम नहीं होते। पूँजीवादी समाज में पूँजीपति यह देखता है कि फलाँ फलाँ काम मशीन से सस्ता कराया जा सकता है या सस्ती-मजदूरी से ! उदाहरणतः सड़क कूटने के लिये जहाँ मजदूरी कम है, वहाँ आदमी कूटते हैं और जहाँ मजदूरी ज्यादा है, वहाँ इंजन सड़क कूटते हैं। परन्तु समाजवादी शासन में देखा यह जायगा कि समाज के व्यक्तियों को आराम किस प्रकार होता है। मजदूरों की संख्या बढ़ने से मजदूरों के बेकार होने का सवाल समाजवाद में पैदा नहीं होता। यदि मशीनरी की उन्नति के कारण जिस काम को आज सौ मजदूर करते हैं; कल दस मजदूर कर लेंगे तो बचाय नये मजदूरों के बेकार होने के समाज के लिये और उपयोगी पदार्थ तैयार करने के काम शुरू हो जायेंगे। मिसाल के तौर पर मजदूरों के लिये अच्छा फर्नीचर, बढ़िया मकान आदि आदि तैयार होंगे और प्रत्येक मजदूर आज की तरह दस दस घण्टे काम न कर, बारी बारी से केवल एक

या दो घण्टे काम करेंगे या वारी वारी से छुट्टी ले लेकर काम करेंगे ।

मार्क्सवाद के अनुसार समाजवाद में समानता का यही आदर्श है—‘अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति को जीवन निर्वाह के उपायों की प्राप्ति के लिये समान अवसर हो और प्रत्येक व्यक्ति को अपने परिश्रम का फल पाने का समान अवसर हो ।’

वैयक्तिक स्वतंत्रता

परन्तु समाजवाद में प्राप्त होने वाली समानता को ही मार्क्सवाद अपनी पूर्ण सफलता नहीं समझता । समाजवाद को वह मनुष्य-समाज में वास्तविक समानता लाने का साधन या तैयारी समझते हैं । मार्क्सवाद परिस्थितियों और भौतिक तथ्यों को विशेष महत्व देता है । वह इस बात से इनकार नहीं करता कि हमारे मौजूदा समाज में मनुष्यों की शारीरिक और मस्तिष्क की उन्नति में बड़ा भेद है । और यदि प्रत्येक मनुष्य को अपना निजी स्वार्थ पूरा करने के अवसर की पूरी स्वतंत्रता दे दी जाय, तो बहुत से योग्य और बलवान मनुष्य अपने स्वार्थ को पूरा करने के लिये दूसरों का जीवन असम्भव कर देंगे हैं । मार्क्सवाद वैयक्तिक स्वतंत्रता और विकास को विशेष महत्व देता है परन्तु यह वैयक्तिक स्वतंत्रता वह सभी व्यक्तियों को समान रूप से देना चाहता है । यदि किसी एक व्यक्ति की स्वतंत्रता का अर्थ यह हो कि सैकड़ों आदमी उस व्यक्ति के आधीन हो जायँ, तो इस प्रकार की वैयक्तिक स्वतंत्रता के लिये मार्क्सवाद में स्थान नहीं है । जान स्टुअर्ट मिल ने वैयक्तिक स्वतंत्रता की व्याख्या करते हुए कहा है :—एक व्यक्ति की नाक की सीमा वहीं तक है, जहाँ कि दूसरे व्यक्ति की नाक शुरू हो जाती है (Nose of one man ends where the nose of other man begins) इसे हम दूसरे शब्दों में

यों कह सकते हैं कि व्यक्तियों की वैयक्तिक स्वतंत्रता एक दूसरे से टकराती रहती है। ऐसी अवस्था में यदि बलवान और अधिक योग्य व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों से लाभ उठाये बिना संतुष्ट न हों तो सम्पूर्ण पृथ्वी पर एक ही व्यक्ति स्वतंत्रता का आनन्द उठा सकता है। क्योंकि सिकन्दर जैसे व्यक्ति भी तो संसार में पैदा हो जा सकते हैं जो सम्पूर्ण पृथ्वी पर अपना राज्य क़ायम करने के स्वप्न देखा करते हैं। यह कोई काल्पनिक बात नहीं, हिटलर के नेतृत्व में जर्मन राष्ट्र संसार भर पर जर्मनी का साम्राज्य क़ायम करने का स्वप्न देख रहा है। इतिहास इस बात का गवाह है कि संसार की ग़ोरी जातियों ने अपनी स्वतंत्रता का अर्थ काली जातियों पर हुकूमत करना, उनका शोषण करना समझा है। परन्तु इस प्रकार की वैयक्तिक और राष्ट्रीय स्वतंत्रता का अर्थ रहा है मनुष्य-समाज में व्यक्तियों और राष्ट्रों का परस्पर संघर्ष और अशान्ति। जिस वैयक्तिक स्वतंत्रता का मनुष्य-समाज के सभी व्यक्ति आनन्द उठा सकते हैं, उसमें दूसरे व्यक्तियों की स्वतंत्रता का ध्यान रखना आवश्यक है। सभी व्यक्ति स्वतंत्रता पूर्वक रह सकें, इसके लिये आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता को एक सीमा के भीतर रखे। एक व्यक्ति की स्वतंत्रता उसी सीमा तक जाये, जहाँ तक कि वह दूसरे व्यक्तियों की स्वतंत्रता पर हमला नहीं करती। किसी व्यक्ति के अधिक बलवान होने या बुद्धिमान होने का यह अर्थ नहीं होना चाहिये कि वह दूसरे व्यक्तियों को दबाकर अपना मतलब पूरा करे। मार्क्सवाद के अनुसार समाजवाद की वैयक्तिक स्वतंत्रता ऐसी है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति की स्वतंत्रता—उसके बल और बुद्धि पर ऐसी सीमा लगा दी जाती है कि वह दूसरों की स्वतंत्रता पर हमला न कर सके। यह सीमा लगाई जाती है इस खयाल से, कि सभी मनुष्यों को एक समान स्वतंत्रता मिल सके।

कम्यूनिज्म-समष्टिवाद

व्यक्तियों के जीवन में दिखाई पड़ने वाली असमानता की जड़ में व्यक्तियों के बल और योग्यता की असमानता मौजूद है। आध्यात्मवादी और पूँजीवादियों के विचार में यह असमानता दूर नहीं हो सकती परन्तु मार्क्सवाद इस असमानता को भी दूर कर देने का दावा करता है। जिस अवस्था में यह असमानता दूर हो जायगी, उस अवस्था को मार्क्सवाद कम्यूनिज्म या समष्टिवाद कहता है ७। कम्यूनिज्म में जहाँ तक सम्भव है व्यक्तिगत असमानता को दूर करने के बाद समाज के संगठन का सिद्धान्त होगा—‘प्रत्येक मनुष्य अपने सामर्थ्य भर परिश्रम करे और प्रत्येक मनुष्य को अपनी आवश्यकताओं के अनुसार पदार्थ मिलें +। परन्तु इसके लिये यह आवश्यक है कि मनुष्यों की योग्यता और शिक्षा की असमानता दूर हो।

मनुष्यों में शारीरिक बल, बुद्धि और शिक्षा की असमानता दूर करने के उपायों पर विचार करने से पहले ऐसी असमानता के कारणों पर विचार करना चाहिये। जो लोग यह समझते हैं कि इस प्रकार की असमानता पिछले जन्म के कर्मों के कारण है, उन्हें मार्क्सवाद यह उत्तर देता है कि कर्म करने के लिये अवसर भी तो परिस्थितियों के अनुसार ही मिलता है; इसलिये परिस्थितियाँ ही मुख्य हैं। समाजवाद सब मनुष्यों को शिक्षा, मस्तिष्क और स्वास्थ्य की उन्नति का समान अवसर देकर मनुष्यों में दिखाई देने

७ कम्यूनिज्म के लिये हिन्दी में प्रायः वर्गवाद शब्द का व्यवहार होता है। शब्द कोई भी हो, हमें भाव से प्रयोजन है।

+ From every man according to his ability,
to every one according to his need.’

वाली असमानता को दूर करने का यत्न करता है। कहा जायगा कि मनुष्य जन्म से ही कम या अधिक तन्दुरुस्त, कम या अधिक अकलमन्द होते हैं। परन्तु कम तन्दुरुस्त और कम अकलमन्द लोग होते हैं प्रायः गरीबों की सन्तान और अधिक तन्दुरुस्त और अधिक अकलमन्द होते हैं प्रायः अमीरों की सन्तान। मार्क्सवाद में समान अवसर सबको होने से नई पैदा होने वाली पीढ़ी में जन्म से पाई जाने वाली असमानता बहुत कम हो जायगी और कुछ पीढ़ियों तक समान परिस्थितियों में मनुष्यों का जन्म होने पर हम मनुष्यों को प्रायः एक-सा बुद्धिमान और बलवान देख पायेंगे। यदि मनुष्य पशुओं की नस्ल में उन्नति कर सकता है तो मनुष्य की नस्ल में भी उन्नति करना सम्भव है। मार्क्सवाद यह नहीं कहता कि सबके लिये समान अवसर हो जाने पर अन्धे, लूले या रोगी बच्चे बिलकुल पैदा नहीं होंगे। हो सकता है लाखों में कुछ ऐसे बच्चे पैदा हो जायें परन्तु समाज के नियम इस प्रकार के अपाहिजों के आधार पर नहीं, बल्कि साधारण जनता की अवस्था के आधार पर बनते हैं।

पूँजीवाद में उन्नति के वैज्ञानिक साधन केवल कुछ चुने हुए व्यक्तियों के लिये उपयोग में आते हैं; परन्तु समाजवाद और समष्टिवाद में यह साधन सभी लोगों के उपयोग के लिये होंगे। पूँजीवादी यह कहते हैं कि मार्क्सवाद का यह दावा कि प्रत्येक व्यक्ति के शक्तिभर परिश्रम करने से ही उसे समष्टिवाद में आवश्यकतानुसार पदार्थ मिल जायँगे, निरा दवाई महल है। पदार्थों के पैदा किये जाने की एक सीमा है, पैदावार को आखिर कितना बढ़ाया जा सकता है? इसके उत्तर में मार्क्सवाद का कहना है कि विज्ञान और मशीन की शक्ति की सीमा बहुत दूर तक है। समष्टिवाद ज्ञायम होने से पहले कला-कौशल और मशीन की उन्नति

बहुत अधिक करनी होगी। इतनी अधिक कि बहुत थोड़े से परिश्रम से बहुत अधिक पैदावार हो सके। पूँजीवाद में विज्ञान और मशीन को पैदावार करने के लिये केवल उस हद तक ही व्यवहार में लाया जाता है, जहाँ तक कि पदार्थों की विक्री द्वारा मुनाफ़ा कमाने की गुंजाइश रहती है। परन्तु समष्टिवाद में विक्री और मुनाफ़े का प्रश्न न होकर प्रश्न होगा वस्तुओं को उपयोग के लिये पैदा करने का और वस्तुयें उसी तादाद में पैदा की जायँगी, जितनी कि आवश्यकता होगी। कला-कौशल की उन्नति से किस प्रकार सब लोगों की आवश्यकता पूर्ण करना सम्भव होगा, इसका उदाहरण साधारण जीवन में देखा जा सकता है। विजली के आविष्कार के पूर्व प्रत्येक व्यक्ति के लिये अपने मकान में रात के समय रोशनी करना सम्भव नहीं था परन्तु आज हम सड़कों और गलियों तक में रोशनी देखते हैं और इस रोशनी को और भी अधिक बढ़ाया जा सकता है। वस्त्रों के प्रश्न को भी विज्ञान ने हल कर दिया है, प्रथम तो कपास और ऊन की पैदावार बेहद बढ़ाई जा सकती है और फिर विज्ञान बीसियों ऐसे पदार्थ तैयार कर सकता है जिनसे कपास तथा ऊन की ही तरह कपड़ा बन सकता है। पूँजीवाद के युग में यह सब साधन काम में नहीं लाये जाते क्योंकि तैयार किये गये सामान को खरीदने वाले लोग नहीं मिलते। मुग़लों के राज में वरफ़ केवल बादशाहों के लिये हिमालय पहाड़ से लाई जाती थी; आज वह गली-गली मारी-मारी फिरती है। रोटी का सवाल मनुष्य के लिये सबसे पहला सवाल है। पूँजीवादी देशों में भूखों की संख्या देखकर यही शंका होती है कि सब लोगों के लिये आवश्यक भोजन पैदा करना समाज के लिये कठिन है। परन्तु रूस के समाजवादी शासन में गेहूँ तथा दूसरे पदार्थों की उपज इतनी बढ़ गई है कि

तीसरी पंचवर्षीय-आयोजना (Third five year plan) के अंत में वहाँ रोटी का कुछ भी मूल्य जनता से न लेने का विचार किया जा रहा है। रोटी वहाँ इस तरह मुफ्त मिल सकेगी, जिस तरह शहरों की सड़कों पर विजली मुफ्त मिलती है या होटलों में पानी मुफ्त मिलता है। यह एक उदाहरण है जिससे समष्टिवाद में बढ़ सकने वाली पैदावार का कुछ अनुमान किया जा सकता है। समाज में पैदावार की कितनी शक्ति व्यर्थ नष्ट होती है, इसके उदाहरण में मार्क्सवादी ऐसे अनेक वैज्ञानिक आविष्कारों का वर्णन करते हैं, जिन्हें उपयोग में इसलिये नहीं लाया जाता कि पूँजीवादियों को अपनी पुरानी मशीनें बदलने से आर्थिक हानि होगी। पूँजीवादी आविष्कार करनेवाले वैज्ञानिकों से आविष्कार खरीदकर अपने पास रख लेते हैं ताकि दूसरे पूँजीवादी उन आविष्कारों से लाभ उठाकर बाजार में आगे न बढ़ जायँ। पैदावार की शक्ति पूँजीवादी समाज में किस प्रकार नष्ट होती है, इसका एक बड़ा उदाहरण साम्राज्यवादी युद्ध हैं।

मार्क्सवाद और युद्ध

युद्ध पूँजीवादी प्रणाली की बहुत बड़ी समस्या है। जैसा कि

६ रूस के समाजवादी शासन में सभी व्यवसायों का प्रबन्ध समाज की ओर से होता है और लेखा लगाकर देख लिया जाता है कि कितना खर्च होगा और कितनी पैदावार की जरूरत है। इसी प्रकार कलाकौशल की उन्नति के लिये भी वहाँ एक आयोजना तैयार की जाती है। रूस ने १९२१ में पहली पंचवर्षीय आयोजना तैयार की थी। इसके अनुसार पाँच वर्ष के समय में एक निश्चित मात्रा तक काम कर लेने का निश्चय किया गया था। इस आयोजना के सफल हो जाने के बाद दूसरी पंचवर्षीय आयोजना और उसके बाद तीसरी पंचवर्षीय आयोजना तैयार की गई, जो चालू है।

हम ऊपर कह आये हैं। मार्क्सवाद के अनुसार पूँजीवादी प्रणाली का आधार है, जीवन निर्वाह के लिये खुला मुकाबिला। इस खुले मुकाबिले पर पूँजीवादी शासन प्रणाली ऐसे प्रतिबंध लगा देती है कि मनुष्य-समाज तुरन्त ही आपस में झगड़ कर मर न जाय परन्तु मुनाफे के रूप में खुले मुकाबिले का सिद्धान्त कायम रहता है। मुनाफे के लिये खुले मुकाबिले का मामला जब तक व्यक्तियों में रहता है, वह अपनी सरकार के नियंत्रण में रहने के कारण मारकाट से बचे रहते हैं परन्तु जब यह मुकाबिला दो देशों के पूँजीपतियों में होने लगता है तो अवस्था बदल जाती है। अपने देश में मुनाफे की गुंजाइश न देख दूसरे देशों पर कब्जा करने के लिये या अपने आधीन देशों को अपने कब्जे में रखने के लिये, या बलवान देशों से अपनी रक्षा करने के लिये, पूँजीवादी देशों को युद्ध के लिये तैयार रहना पड़ता है और युद्ध करने पड़ते हैं। संसार में पूँजीवादी शासन प्रणाली के रहते यदि कोई देश निशान्न हो जाता है, युद्ध के लिये तैयार नहीं रहता तो दूसरे खूँतार पूँजीवादी देश उसे भूख लेने के लिये आगे बढ़ते हैं। हमारे देखते देखते कई छोटे छोटे देशों को नाज़ी और फैसिस्ट साम्राज्यवादी देशों ने हड़प लिया। ऐसी अवस्था में पूँजीवादी और साम्राज्यवादी प्रणाली के रहते, युद्ध के लिये तैयार रहना पूँजीवादी देशों के लिये आवश्यक हो जाता है।

युद्ध और युद्ध की तैयारी का अर्थ पैदावार के दृष्टिकोण से क्या है? इस बात को मार्क्सवाद विशेष महत्व देता है। सभी देशों की सरकार की आमदनी का बहुत बड़ा भाग बलिष्ठ कहिये संसार भर की रोहन्त से पैदा किये गये धन का मुख्य भाग युद्ध की तैयारियों में और युद्ध लड़ने पर खर्च हो जाता है। धन का यह भाग मनुष्य-समाज को क्या लाभ पहुँचाता है; कष्ट, भय और

अकाल मृत्यु । यदि यह सब धन और परिश्रम मनुष्य-समाज के लिये उपयोगी पदार्थों को तैयार करने में खर्च हो, तो मनुष्य-समाज की अवस्था कितनी बेहतर हो सकती है ? युद्ध की तैयारियों में तो धन नष्ट होता ही है । इसके अलावा प्रत्येक देश में लाखों बलवान जवान समाज के कल्याण के लिये कुछ भी पैदावार न कर अपना सम्पूर्ण समय और शक्ति अपने आपको मरना और दूसरों को मारना सीखने में ही नष्ट कर देते हैं । यदि इन करोड़ों सिपाहियों की शक्ति और युद्ध लड़ने के लिये तैयार किये जाने वाले सामानों पर खर्च होने वाली शक्ति, समाज के कल्याण के लिये खर्च हो तो सभी देशों के मनुष्यों की अवस्था कितनी बेहतर हो सकती है !

परन्तु पूँजीवादी प्रणाली के रहते युद्ध समाप्त नहीं हो सकते । जब तक मुनाफे द्वारा अधिक समेटने का कायदा रहेगा, उसके लिये लड़ाई होगी ही । मार्क्सवाद के विचार में पूँजीवाद उन्नति करता हुआ साम्राज्यवाद की अवस्था में पहुँच चुका है, जबकि पूँजीवादी देशों की पूँजी उनके अपने देशों में मुनाफे के लिये पर्याप्त क्षेत्र न पाकर दूसरे देशों में पूँजी से मुनाफा कमाने की जगह ढूँढ़ रही है । इंग्लैण्ड और फ्रान्स की पूँजी और साम्राज्य पृथ्वी के अधिकांश भाग पर फैला हुआ है । अपने इस राजनैतिक प्रभुत्व के कारण इंग्लैण्ड और फ्रान्स के पूँजीपतियों को उन देशों से आर्थिक लाभ उठाने का अवसर मिलता है । जर्मनी इटली की उठती हुई साम्राज्यवादी भावना को यह अवसर नहीं; इसलिये जर्मनी और इटली दूसरे देशों पर प्रभुत्व जमाने के लिये बेचैन हैं । पूँजीवादी प्रणाली में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति का मार्ग यह है, कि सभी देश अपनी सैनिक शक्ति को इतना बढ़ा लें कि कोई किसी पर आक्रमण करने का साहस न कर सके । इसके लिये मनुष्यों का कितना परिश्रम अन

उपजाऊ कार्यों में नष्ट होगा ; इसका अनुमान लगाया जा सकता है । वरसों तक लाखों मनुष्यों के परिश्रम को युद्ध की सामग्री के रूप में इकट्ठा किया जाता है केवल उसमें आग लगा देने के लिये और उसका परिणाम होता है लाखों मनुष्यों को भून डालना । मार्क्सवाद का कहना है, यदि पैदावार के साधनों का उपयोग वजाय मुनाफ़ा कमाने के समाज के उपयोग के पदार्थ तैयार करने में किया जाय तो पूँजीवादी होड़ न केवल एक देश में ही न रहेगी । बल्कि अंतरराष्ट्रीय पूँजीवादी होड़ भी समाप्त हो जायगी ! पूँजी को दूसरे देशों के बाजारों में लगाने की जरूरत न होगी । इससे साम्राज्य विस्तार की जरूरत भी न रहेगी और अन्तर-राष्ट्रीय युद्धों की भी समाप्ति हो जायगी । युद्धों की जरूरत और उनका भय न रहने से संसार भर के मनुष्यों के परिश्रम का जो बड़ा भाग युद्ध की तैयारियों और युद्ध लड़ने में स्वाहा होता है, वह मनुष्य-समाज के उपयोग में लगेगा और समाज में इतनी पैदावार हो सकेगी, जो सभी व्यक्तियों की आवश्यकताओं को अच्छी तरह पूरा कर सकेगी ।

मार्क्सवाद युद्ध को समाज की शक्ति का नाश समझता है, जो कि मुकाबिले पर चलने वाली पूँजीवादी प्रणाली का आवश्यक परिणाम है । पूँजीवादी लोग राष्ट्रीयता और देशभक्ति की भावना का रंग देकर अपने अपने देश के किसानों और मजदूरों को अपने हितों के लिये जान कुर्बान करने के लिये तैयार करते हैं । जब तक पूँजीपति अपने देश में माल और बने सौदे से विदेशी बाजारों को भर कर मुनाफ़ा कमाने के तरीके पर काम करते थे, किसी देश के मजदूरों को उससे थोड़ा बहुत लाभ हो सकता था अर्थात् वे बेकारी बगैरा की मुसीबत से बचे रहने थे । परन्तु वर्तमान समय में पूँजीवादियों की पूँजी मुनाफ़े के बल पर इतनी बढ़ गई है

कि वे अपने देश में कारोबार न चलाकर उसे विदेशों और कम विकसित देशों में लेजाकर लगाना पसन्द करते हैं, जहाँ मजदूरी सस्ती होती है और कच्चे माल भी सस्ते मिलते हैं। इस प्रकार पूँजीपतियों के देश के मजदूरों को देशभक्ति के नाम पर पूँजीवाद के लिये जान देने से कुछ भी नहीं मिलता।

मार्क्सवाद की दृष्टि में मजदूर की मातृभूमि का प्रश्न नहीं उठता। जिस व्यक्ति की कहीं कोई सम्पत्ति नहीं, उसके लिये कोई देश खास अपना नहीं; उसका पालन करते हैं केवल उसके दो हाथ। उसे जहाँ कहीं मजदूरी मिल जाय, वही उसका देश है। इसी प्रकार पूँजीवादी के लिये भी मातृभूमि कोई अर्थ नहीं रखती। उसे जहाँ लाभ होगा; उसी जगह वह अपना अधिकार कायम रखने के लिये अपने देश के किसान-मजदूरों को तोपों की आग में कुल्ला देगा। उदाहरणतः इटली ने अग्रीसीनिया में और जापान ने चीन में अपने लाखों सैनिक भेजा डाले। इंग्लैण्ड के पूँजीपति ईरान और बर्मा के तेल के कुओं के लिये अपने देश के लाखों सिपाही कुर्बान कर सकते हैं। परन्तु इन युद्धों से और साम्राज्यशाही शक्तियों के नये नये देशों पर कब्जा करने से मजदूरों की अवस्था में कोई सुधार नहीं हो सकता।

मार्क्सवाद के अनुसार युद्ध मनुष्य के जंगलीपन और असभ्य अवस्था का चिह्न है। जब वह वजाय स्वयं उत्पन्न करने के दूसरों से छीन कर ही अपना पेट भरना चाहता था। जब मनुष्य में सामाजिक भावना और सहयोग की युद्धि उत्पन्न हुई, तो एक परिवार के लोगों ने आपस में लड़ना बन्द कर दिया। एक परिवार के आदमी अपना हित एक समझने लगे परन्तु दूसरे परिवार के लोगों से युद्ध करते रहे। इसके बाद जब एक परिवार दूसरे परिवार की सहायता से जीवन बिताने लगा तो

उनमें गाँव भर का दिन एक नमकाने की बुद्धि पैदा हुई। इस अवस्था में गाँवों में युद्ध होने लगे। मनुष्य की आवश्यकताओं और उसके पैदावार के साधनों के बढ़ने से उनके अपनेपन का क्षेत्र और बढ़ा और छोटे छोटे इलाक़ों के जिनका आपस में सम्बन्ध था मिलकर देशों के रूप में संगठित हो गये।

सम्बन्ध और पैदावार के साधनों के बढ़ जाने से अब मनुष्य का क्षेत्र इतना बढ़ गया है कि संसार का कोई भी देश दूसरे देशों की सहायता के बिना अकेला नहीं रह सकता। सभी देशों के परस्पर सम्बन्ध हैं, इसलिये उनमें परस्पर विरोध न होकर सहयोग और सहायता का सम्बन्ध होना चाहिये। इतिहास की दृष्टि में स्वतन्त्र मार्क्सवाद का कहना है, अब समय आ गया है कि देशों और राष्ट्रों का भेद मिटाकर सम्पूर्ण संसार एक राष्ट्र का रूप धारण कर ले। पूँजीवाद मनुष्य की इस उन्नति को साम्राज्यवाद का रूप देकर कई देशों को एक संगठन में बाँधना चाहता है परन्तु साम्राज्य में मालिक देश दूसरे देशों और उपनिवेशों का शोषण कर अपना स्वार्थ पूरा करने की चेष्टा करता है; इसलिये शोषित देशों में असंतोष और बगावत का भाव बना रहता है। मार्क्सवाद की दृष्टि से संसारव्यापी राष्ट्र पूँजीवादी प्रणाली के आधार पर नहीं बल्कि समाजवादी प्रणाली के आधार पर ही क्रियम हो सकता है, जिसमें एक देश द्वारा दूसरे देश से लाभ उठाने की नीति न हो।

मार्क्सवाद के अनुसार संसार में शान्ति क्रियम होने के लिये पूँजीवादी प्रणाली का अन्त होना जरूरी है और संसार का प्रत्येक देश संसारव्यापी समाज और राष्ट्र का अंग बन जाना चाहिए और उनका सम्बन्ध परस्पर सहयोग का होना चाहिए। बजाय इसके कि भिन्न भिन्न राष्ट्र एक दूसरे को लूटकर सुखी होने की

सुधारने का प्रोत्साहन न होने से न केवल समाज के लिये उन्नति का मार्ग बन्द हो जायगा बल्कि वह अवनति की ओर चल पड़ेगा ।

पूँजीवादियों का यह विश्वास मनुष्य की प्रकृति के सम्बन्ध में उनकी धारणा पर निर्भर करता है । लाभ और स्वार्थ के लिये परिश्रम करना, शक्ति संचय करने की इच्छा होना और दूसरों से लाभ उठाने की इच्छा करना पूँजीवादियों की नजर में मनुष्य की प्रकृति का अंग है, जो उसमें प्रकृति के दूसरे जीवों के समान है ।

जिन बातों को पूँजीवादी मनुष्य की प्रकृति बताते हैं, मार्क्सवाद उन्हें मनुष्यों का अभ्यास समझता है ; जो उनकी परिस्थितियों के कारण बनते और बदलते रहते हैं । मनुष्य-समाज के रीति रिवाजों और अभ्यासों का इतिहास इस बात का प्रमाण है कि मनुष्य के स्वभाव और अभ्यास जिन्हें पूँजीवादी प्रणाली के समर्थक मनुष्य की प्रकृति कहते हैं, मनुष्य की परिस्थितियों के अनुसार बदलते रहते हैं । मनुष्यों के स्वभाव और अभ्यास जैसे आज दिखाई देते हैं, वे सदा ही ऐसे नहीं रहे । प्राचीन काल में मनुष्य आपस में युद्ध होने पर हार जाने वाले शत्रु को मारकर खा जाते थे । बलवान मनुष्य यदि कमजोर के पास धन देखते तो उससे छीन लेते थे, हार जाने वाले लोगों की स्त्रियों को छीनकर अपनी स्त्री बना लेते थे । राजा लोग दूसरे देशों का धन छीनने के लिये या सुन्दर स्त्रियों के लिये बड़ी बड़ी सेनायें लेकर दूसरे देशों पर चढ़ाई किया करते थे । उस समय मनुष्य समाज का यही अभ्यास था, पूँजीवादी लोग इसे प्रकृति कह सकते हैं । परन्तु आज मनुष्य समाज इसे सहन नहीं कर सकता । असभ्य कहलाने वाले लोगों में आज तक मनुष्यों का बलिदान

करने की रीति है, वे दूसरे कबीले के लोगों को देखते ही लूट भी लेते हैं। यह सब बातें सभ्य मनुष्यों में नहीं पायी जातीं। कई कबीलों में आज भी इस प्रकार के रिवाज हैं कि नौजवान जब तक सफलता पूर्वक चोरी न करले, उसे वालिग का अधिकार नहीं मिल सकता, उसका विवाह नहीं हो सकता।

मनुष्य की प्रकृति परिस्थितियों से कैसे बदलती है; इसका एक उदाहरण हम भिन्न भिन्न देशों की स्त्रियों की अवस्था में देख सकते हैं। मुस्लिम देशों की स्त्रियों की प्रकृति है कि वे पुरुष को देखकर छिप जायँ, कभी पुरुषों के सामने न निकलें। उनके लिये स्वतंत्र रूप से अपना घर बसाना या जीविका निर्वाह का उपाय करना सम्भव नहीं परन्तु योरोपीय देशों में स्त्रियों की प्रकृति बिलकुल भिन्न है। वे आर्थिक क्षेत्र में पुरुषों के समान काम करती हैं और रूस में तो वे सेना और हवाई-सेना तक में काम करती हैं।

मनुष्य के उन अभ्यासों का मुक्ताविला आज दिन के अभ्यासों से करने पर हम देखते हैं कि मनुष्य का स्वभाव और अभ्यास बदल गया है। अभ्यास और स्वभाव बदलने का कारण रहा है मनुष्य की परिस्थितियों और रहन सहन के ढंग का बदल जाना। और यदि मौजूदा परिस्थितियों और रहन सहन के ढंग को बदल दिया जाय तो मौजूदा स्वभाव और अभ्यास (पूँजीवादियों के शब्दों में प्रकृति) भी बदल जायगा। आज दिन मनुष्य जितना प्रतिदिन खर्च करता है, उससे बहुत अधिक बटोर कर रख लेना चाहता है क्योंकि उसे भय है कि आये दिन शायद उसे निर्वाह के योग्य पदार्थ न मिल सकें। आज मनुष्य दूसरों की अपेक्षा अधिक धन जमा कर लेना चाहता है क्योंकि वह जानता है कि समाज में प्रतिष्ठा और शक्ति उसे तभी मिल सकती है जब कि

उसके पास काफ़ी धन या उत्पत्ति के साधन हों। मनुष्य पूँजीवादी समाज में दूसरों पर अपना आधिपत्य जमाने की चेष्टा करता है क्योंकि उसे इस बात का भय रहता है कि यदि वह दूसरों से बढ़ कर न रहेगा तो दूसरे उसे दबा लेंगे।

मार्क्सवादी कहते हैं कि यह सब बातें मनुष्य की प्रकृति नहीं बल्कि समाज का रहने का ढंग उसे मजबूर करता है कि वह अपने जीवन के लिये यह सब तरीके अखित्यार करे। यदि समाज का संगठन समाजवादी ढंग पर होजाय, मनुष्य को इस बात का भय न रहे कि बिना अपने पास सम्पत्ति इकट्ठी किये उसे भूखे नंगे रहना पड़ेगा, तो सम्पत्ति के लिये उसका लोभ भी नहीं रहेगा और जब मनुष्य को विश्वास हो जायगा कि उसकी भलाई बुराई सम्पूर्ण समाज की भलाई बुराई के साथ सम्मिलित है तो वह शेष समाज को अपना प्रतिद्वन्दी और शत्रु समझ कर अविश्वास की नज़र से नहीं बल्कि अपने परिवार के व्यक्तियों की भाँति विश्वास की नज़र से देखने लगेगा।

समाजवादी और समष्टिवादी समाज में व्यक्ति को विशेष परिश्रम करने या विचार करने के लिये प्रोत्साहन न होगा, इस बात को भी मार्क्सवादी स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि मनुष्य शनैः शनैः सामाजिक प्राणी बन रहा है। पहले वह केवल वैयक्तिक स्वार्थ की ही चिन्ता करता था और अपने चारों ओर के मनुष्यों को अपना शत्रु समझता था। प्रत्येक मनुष्य या परिवार तीर, कमान और बर्छा, भाला लेकर शेष मनुष्यों का मुक्ताबला करने के लिये तैयार रहता था परन्तु अब वह बात नहीं। अब मनुष्य निशस्त्र होकर देश-विदेश सब जगह फिरता है क्योंकि समाज के संगठन ने उसके व्यक्तित्व पर आक्रमण न होने का विश्वास दिला दिया है। मनुष्य इस बात:

को भी खूब समझने लगा है कि वह समाज के आर्थिक संगठन के बिना नहीं रह सकता। बावजूद यह समझ लेने के भी वह यह देखता है कि आर्थिक क्षेत्र में उसकी रक्षा की जिम्मेदारी किसी दूसरे पर नहीं बल्कि दूसरे लोग उसे धकेल कर अपनी जगह बनाने की फिक्र में रहते हैं, इसलिये वह दूसरों को धकेल-कर अपनी जगह बनाने की फिक्र में रहता है। जिस प्रकार मनुष्य को बाहरी शत्रुओं से रक्षा का विश्वास समाज के राजनैतिक संगठन ने दिला दिया है यदि उसी प्रकार आर्थिक रक्षा का भी विश्वास समाज दिलादे, तो मनुष्य आर्थिक क्षेत्र में भी अपनी ढाई चावल की खिचड़ी अलग नहीं बनायेगा बल्कि सम्पूर्ण समाज को सम्पन्न बनाने में अपना हित समझेगा और उसके लिये जितने प्रयत्नों की आवश्यकता, अधिक परिश्रम या आविष्कार के रूप में होगी, सभी कुछ शौक और उत्साह से करेगा।

इसके अतिरिक्त माक्सवादी विश्वास दिलाते हैं कि समाज-वादी और समष्टिवादी संगठन में मनुष्य को विशेष उत्साह से कार्य करने के लिये प्रोत्साहन रहेगा। सम्मान प्राप्त करने की भावना मनुष्य में कम नहीं। शरीर रक्षा और संतान पैदा करने के वादः यह भावना सबसे प्रबल है। पूँजीवादी समाज में मनुष्य का धन उसके सम्मान और आदर का मुख्य आधार समझा जाता है। हम विद्वानों और समाज-हित का कार्य करने वालों का सम्मान भी देखते हैं और इस सम्मान का मूल्य भी कम नहीं समझा जाता। यदि धन के कारण सम्मान न हो सके तो वे मनुष्य जो व्यक्तिगत सम्पत्ति बटोरकर सम्मान और आदर पाने की चेष्टा करते हैं, अपनी योग्यता को समाज हित के कामों या

अनेक बार यह भावना जीवन रक्षा और सन्तानोत्पत्ति की भावना से भी अधिक प्रबल जान पड़ती है।

शारीरिक और बुद्धि की उन्नति के कामों में लगायेंगे। एक जमाने में तलवार चलाने वाले का सम्मान था, अब रुपये की थैली वाले का सम्मान है, कल परिस्थिति बदल जाने पर उन्हीं का सम्मान होगा जो समाज के हित के लिये कुछ कर सकते हैं।

समष्टिवादी समाज में एक मनुष्य जो पैदावार को बढ़ाने के लिये कोई नवीन आविष्कार कर सकता है या प्रबंध में कोई खास खूबी पैदा कर सकता है, उतने ही सम्मान का अधिकारी होगा जितने सम्मान के अधिकारी पूँजीवादी समाज में जनरल या कमाण्डर होते हैं। इसके अतिरिक्त मार्क्सवादी भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि मनुष्य की परिस्थितियों और स्वभाव को बदलने के लिये समय चाहिये। इसलिये समाजवादी समाज में—जो कि पूँजीवादी प्रणाली से समष्टिवाद में जाने का साधन और मार्ग है, समाज हित के कार्यों के लिये प्रोत्साहन पाने के और भी कारण व्यक्तियों के सामने रखे गये हैं—उदाहरणतः समाजवादी समाज में (जैसा कि रूस में है) अधिक अच्छा काम करने के लिये व्यक्ति को अधिक मजदूरी और पुरस्कार भी मिलता है। वह इस अधिक धन को अपने आराम और शौक के लिये खर्च कर सकता है, अलवत्ता इस धन द्वारा दूसरों के परिश्रम को नहीं छीन सकता। समाजवादी रूस में सम्मान के विचार से किस प्रकार लोग अधिक परिश्रम और लगन से कार्य करते हैं, इसका एक उदाहरण है, 'परिश्रम के सितारों' (Order of Labour) का तमगा या 'लेनिन का तमगा' (Order of Lenin)। जिस प्रकार ब्रिटिश सेना में 'विक्टोरिया क्रॉस' (Victoria Cross) तमगे का महत्व है—कई सिपाही और अक्सर इसे पाने के लिये जान पर खेल जाते हैं—इसी प्रकार रूस में इन तमगों का महत्व है। यह तमगे वहाँ दिये जाते हैं उन लोगों को, जो परिश्रम करने

के ऐसे नये ढंगों का आविष्कार करते, जिनसे कम समय और कम परिश्रम में अधिक पैदावार हो, या कोई वैज्ञानिक आविष्कार करते हैं। रूस में जो लोग खेती के लिये कोई नया बीज निकालते हैं या पशुओं की नस्ल को सुधारने का उपाय ढूँढ़ निकालते हैं, उनके जूलूस निकाले जाते हैं। इस तरह समाजवादी और समष्टिवादी समाज में न केवल आर्थिक और औद्योगिक उन्नति का मार्ग खुला रहता है बल्कि साहित्य, संगीत, चित्रकला और इस प्रकार की दूसरी ललित कलाओं के लिये भी वहाँ उन्नति का अधिक अवसर रहता है क्योंकि शारीरिक आवश्यकताओं के आसानी से पूर्ण होजाने के कारण और शिक्षा का अधिक प्रचार होने से सर्वसाधारण भी इन विषयों की ओर ध्यान दे सकते हैं। पूँजीवादी समाज में यह विषय केवल धनिकों के शौक के लिये रहते हैं। समाजवादी और समष्टिवादी समाज में प्रतिभाशाली व्यक्तियों को जीवन निर्वाह की चिन्ता से छुट्टी मिल जाने के कारण वे सभ्यता और संस्कृति के विकास के कार्यों को अधिक अच्छे ढंग से और सुविधा से कर सकेंगे। इसके अतिरिक्त प्रतिभाशाली व्यक्तियों को धन कमाने में कोई आसक्ति न होकर उनकी सब शक्ति ऐसे ही कामों में व्यय होगी, जिनसे मनुष्य समाज के सुख और आनन्द की वृद्धि हो। समाजवादी समाज में प्रत्येक व्यक्ति को अपने लिये इच्छानुसार काम चुनने की सुविधा होगी इसलिये व्यक्ति प्रत्येक काम अधिक मुस्तैदी से करेगा।

कुछ लोग इस प्रश्न को और भी दूर तक ले जाते हैं और कहते हैं कि जब भोजन मिलना ही है तो काम किया ही क्यों जाये ? इसका अर्थ होता है कि मनुष्य स्वभाव से कोई भी काम करना नहीं चाहता। परन्तु बात ऐसी नहीं है। क्या मनुष्य और क्या दूसरे जीव, प्रकृति से ही निष्क्रिय नहीं रह सकते ; वे कुछ न कुछ करेंगे ही।

पूँजीवादी समाज में प्रायः गरीब आदमी काम से बचने की चेष्टा करते हैं, इसका कारण प्रथम तो यह है कि उन्हें अपने सामर्थ्य से अधिक काम करना पड़ता है दूसरे यह कि जितना काम वे करते हैं उसका फल उन्हें पूरा नहीं मिलता और तीसरे उन्हें वे काम करने को दिये जाते हैं जिनमें उन्हें रुचि और उत्साह नहीं रहता। परन्तु समाजवाद और समष्टिवाद का जो चित्र मार्क्सवादी हमारे सामने रखते हैं, उसमें अल्पचक्र कामों का बहुत सा भाग तो मशीनें करेंगी और शेष काम भी कम मात्रा में करना पड़ेगा और उसके लिये मजदूरी या फल भी पूरी मात्रा में मिलेगा। इसलिये समाजवाद या समष्टिवाद में मनुष्यों के काम से द्रित चुराने की कोई वजह मार्क्सवादियों को नहीं दिखाई देती। इस प्रकार मार्क्सवाद, समाजवादी और समष्टिवादी समाज में धन का प्रलोभन दिये बिना भी उन्नति-विकास और आविष्कार के मार्ग को समाज के लिये खुला रखता है।

स्त्री-पुरुष और सदाचार

समाज व्यक्तियों और परिवारों का समूह है। समाज की व्यवस्था में आने वाला कोई भी परिवर्तन व्यक्तियों और परिवारों पर प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकता। परिवार—स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध—समाज का केन्द्र है। समाज की आर्थिक अवस्था मनुष्यों को जिस अवस्था में रहने के लिये मजबूर करती है, उसी ढंग पर मनुष्य परिवार को बना लेता है। कुछ देशों में परिवार बहुत बड़े बड़े—सम्मिलित परिवार होते हैं, कुछ देशों में छोटे छोटे; कहीं परिवार पिता के वंश से होते हैं और कहीं माता के वंश से।

❧ इतिहास बताता है पहले परिवार माता के वंश से होते थे परन्तु व्यवस्थाओं के परिवर्तन से परिवार अब प्रायः पिता के वंश से होते हैं, लेकिन भारत के दक्षिण में तथा उत्तर के पहाड़ों में अब भी कई जगह परिवार माता के वंश से ही होते हैं।

स्त्री समाज की उत्पत्ति का स्रोत है, इसके साथ ही वह कई तरह से पुरुष से शारीरिक रूप से कमजोर भी है, इन सब बातों का प्रभाव समाज में स्त्री की स्थिति पर पड़ता है।

समाज जब विलकुल आदि अवस्था में था और मनुष्य जंगलों में घूम फिर कर जंगली फलों और शिकार से पेट भर लिया करते थे या जब वे खेती और पशुपालन द्वारा अपना निर्वाह करते थे, उस समय कबीलों में भूमि के भाग या इस प्रकार की दूसरी चीजों के लिये लड़ाइयाँ होती रहती थीं। इन लड़ाइयों में शारीरिक रूप से स्त्री के कमजोर होने के कारण उसका अधिक महत्व नहीं था। इसके अलावा स्त्री को लड़ाई लड़ने के लिये आगे भेजना खतरे से खाली न था, क्योंकि स्त्रियों के लड़ाई से मारे जाने या उनके कैदी होकर शत्रु के हाथ पड़ने से कबीले में पैदा होने वाले पुरुषों की संख्या में घाटा पड़ जाता था और कबीला कमजोर हो जाता था। इसलिये स्त्रियों को लड़ाई में पीछे रखा जाने लगा वल्कि सम्पत्ति की दूसरी वस्तुओं की तरह उनकी भी रक्षा की जाने लगी। सम्पत्ति की ही तरह उनका उपयोग भी किया जाता था। उस समय साधनों का विकास न हो सकने के कारण पैदावार के कामों में विशेष परिश्रम करना पड़ता था। क्योंकि स्त्री की अपेक्षा पुरुष पैदावार के कठिन काम को अधिक अच्छी तरह कर सकता था, इसलिये स्त्री को पुरुष की प्रधानता मानकर उसकी सम्पत्ति वन जाना पड़ा। उस समय वैयक्तिक सम्पत्ति का चलन न था, इसलिये स्त्री सम्पूर्ण कबीले या परिवार की सामी सम्पत्ति थी।

जब विकास से वैयक्तिक सम्पत्ति का काल आया तो स्त्री भी पुरुष की वैयक्तिक सम्पत्ति बन गई जिसका काम पुरुष के घरेलू कामों को करना और उसके लिये सन्तान के रूप में उत्तराधिकारी पैदा

करना था। परन्तु स्त्री दूसरे घरेलू पशुओं के ही समान उपयोग की वस्तु न बन सकी। पुरुष के समान ही उसका भी विकास होने के कारण या कहिये उसके भी पुरुष के समान ही मनुष्य होने के कारण, पुरुष की सम्पत्ति में ठीक पुरुष के बाद उसका दर्जा मुकर्रर हुआ। आलंकारिक भाषा में इसे यों कहा गया कि—वैयक्तिक सम्पत्ति या परिवार के राज में पुरुष राजा है तो स्त्री मंत्री। मनुष्य जीव के विकास के नाते स्त्री और पुरुष में कुछ भी अन्तर नहीं। मनुष्य, समाज की रक्षा के लिये वे दोनों एक समान आवश्यक हैं। पुरुष यदि शारीरिक बल में या मस्तिष्क के कामों में अधिक सफलता प्राप्त कर सकता है, तो स्त्री का महत्व पुरुष को उत्पन्न करने में कम नहीं है। पुरुष समाज का जीवन स्त्री के बिना सम्भव नहीं, इसलिये पुरुष की सम्पत्ति होकर भी स्त्री उसके बराबर ही आसन पर बैठती रही। स्त्री पुरुष में इतनी समानता होने पर भी वह आर्थिक दृष्टिकोण से जीवन के उपायों को प्राप्त करने के लिये पुरुष के आधीन रही क्योंकि परिवार के हित के खयाल से पुरुष ने स्त्री को अपने वश में रखना आवश्यक समझा। जब तक समाज भूमि की उपज से या घरेलू धन्धों से अपने जीवन-निर्वाह के साधन प्राप्त करता रहा, स्त्री की अवस्था परिवार और समाज में ऐसी ही रही। क्योंकि स्त्री की खोपड़ी में भी पुरुष की तरह सोचने विचारने और उपाय ढूँढ़ निकालने की सामर्थ्य है इसलिये पुरुष उसे गले में रस्सी बाँधकर नहीं रख सका। समाज ने समाज के कल्याण और हित के विचार से स्त्री को भी पुरुष की तरह ही जिम्मेदार ठहराया लेकिन स्त्री के व्यवहार पर ऐसे प्रतिबंध लगाये गये जोकि सम्पत्ति के आधार पर बने परिवार की रक्षा के लिये आवश्यक थे। उदाहरणतः स्त्री का एक समय एक ही पुरुष से सम्बन्ध रखना ताकि उसके

दो व्यक्तियों की सम्पत्ति बनने से भगड़ा न उठे, पुरुष की सन्तान के बारे में भगड़ा न उठे कि सन्तान किसकी है, कौन पुरुष उस सन्तान को अपनी सम्पत्ति देगा । यह सब ऐसे भगड़े थे जिनके कारण परिवारों का नाश हो जाता । इसलिये स्त्रियों के आचरण के बारे में ऐसे नियम बनाये गये कि भगड़े उत्पन्न न हों । पतिव्रत धर्म—अर्थात् एक पुरुष से सम्बन्ध रखने को स्त्री के लिये सबसे बड़ा धर्म बताया गया ताकि व्यक्तिगत सम्पत्ति के आधार पर बना हुआ समाज तहस-नहस न हो जाय । जैसा कि ऊपर बताया गया है, स्त्री बुद्धि की दृष्टि से मनुष्य के समान ही सामर्थ्यवान है, इसलिये पशुओं की तरह उसके गले में रस्सी बाँध देने से काम नहीं चल सकता था, उसे समझा कर और विश्वास दिलाकर समाज में मुख्य 'पुरुष' के हित के अनुसार चलाने की जरूरत थी । इस कारण पुरुष और समाज के हाथ में जितने भी ऐसे साधन धर्म, नीति, रिवाज आदि के रूप में थे, उन सबसे स्त्री को पुरुष के आधीन होकर चलने की शिक्षा दी गई । उसे समझाया गया, यहाँ चाहे वह पुरुष का मुकाबिला भले ही करले परन्तु बाद में उसे पछताना पड़ेगा ; क्योंकि उसकी स्वतंत्रता से भगवान और धर्म नाराज होते हैं ।

औद्योगिक युग आने पर जब सम्मिलित परिवार आर्थिक कारणों से बिखर गये । जब पुरुषों को शहर शहर जीवन निर्वाह के लिये भटकना पड़ा, उस समय सम्पूर्ण परिवार को साथ लिये फिरना सम्भव न था । इसके साथ ही पैदावार के साधन, मशीनों का विकास हो जाने से ऐसे हो गये कि उनमें कठोर शारीरिक परिश्रम की जरूरत कम पड़ने लगी और स्त्रियाँ भी उन कामों को करने लगीं । बहुधा ऐसा भी हुआ कि जीवन के लिये उपयोगी पदार्थों की संख्या बढ़ जाने से, जिसे दूसरे शब्दों में यों भी कहा

जा सकता है कि जीवन का दर्जा (Standard of living) ऊँचा हो जाने से अकेले पुरुष की कमाई उसके परिवार के लिये काफी न थी, तब स्त्री और पुरुष दोनों मिलकर मजदूरी करने लगे और घर का खर्च चलाने लगे । इन अवस्थाओं में पुरुष का स्त्री पर वह कब्जा न रहा जो कृषि और घरेलू उद्योग धन्यों की प्रधानता के ज़माने में था । ऊपर जिस ऐतिहासिक विकास का चित्र हम करते आ रहे हैं वह औद्योगिक विकास के साथ हुआ और क्योंकि यह विकास योरुप में अधिक तेजी से हुआ इसलिये वहीं लोगों ने इसे अधिक उग्र रूप में अनुभव भी किया । इस विकास का प्रभाव समाज के रहन सहन के ढंग पर पड़ने से स्त्रियों की अवस्था पर भी पड़ा और स्त्रियों की स्थिति पुरुषों के बराबर होने लगी । उन्हें भी पुरुषों के समान ही सामाजिक और राजनैतिक अधिकार मिलने लगे परन्तु वैयक्तिक सम्पत्ति की प्रथा जारी रही क्योंकि वह पूँजीवाद के लिये आवश्यक थी । परिणाम स्वरूप स्त्री के एक पुरुष से बँधे रहने का नियम भी जारी रहा । अब स्त्री को पुरुष का दास न कहकर उसका साथी कहा गया, जिसे यह उपदेश दिया गया कि परिवार की रक्षा के लिये उसे एक पुरुष के सिवा और किसी तरफ़ न देखना चाहिए । मौजूदा पूँजीवादी प्रणाली में स्त्री की स्थिति इसी नियम पर है ।

क्योंकि भारत में औद्योगिक विकास से होने वाला परिवर्तन योरुप के प्रभाव से देर में आरम्भ हुआ वल्कि अभी आहिस्ता आहिस्ता हो रहा है और पूरे रूप में हो भी नहीं पाया, स्त्रियों की अवस्था में भी परिवर्तन यहाँ अभी तक नहीं हो पाया है । जन साधारण या ज़मीन्दार श्रेणी और पूँजीपती श्रेणी की स्त्रियाँ इस देश में अभी तक उसी अवस्था में हैं परन्तु मध्यम श्रेणी की

स्त्रियों की अवस्था में—जिन पर आर्थिक परिवर्तन का प्रभाव गहरा पड़ा है परिवर्तन तेजी से आ रहा है ।

योरुप में जहाँ कि पूँजीवाद पूर्ण उन्नति कर चुकने के बाद ठोकर खाने लगा है, स्त्रियों की अवस्था पुरुषों की अपेक्षा जीवन निर्वाह के संघर्ष में कम योग्य होने के कारण पुरुषों से भी गई बीती है । बेकारी और जीवन निर्वाह की तंगी के कारण लोग व्याह कर परिवार पालने के झगड़े में नहीं फँसना चाहते, इसलिये स्त्रियों के लिये घर बैठकर बच्चे पालने और निर्वाह के लिये रोटी कपड़ा पाते रहने का मौक़ा गया । अब उन्हें भी मिलों, कारख़ानों, ख़ानों, खेतों और दफ़्तरों में मजदूरी कर पेट पालना पड़ता है । यदि उनका विवाह हो जाता है तो माता बनने का उनका काम ज्यों त्यों निभ जाता और वे फिर मजदूरी करने चल देती हैं । यदि विवाह नहीं हुआ और शरीर की स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण वे माता बन गईं तो उनकी मुसीबत है । प्रसव की अवस्था में उनके निर्वाह का सवाल बहुत कठिन हो जाता है और प्रसव काल में ही उन्हें सहायता की अधिक आवश्यकता रहती है । प्रसव काल में यदि वे काम पर नहीं जा सकतीं तो उनकी जीविका छूट जाती है और प्रसव काल के बाद जब उन्हें एक के वजाय दो जीवों की ज़रूरतों को पूरा करना पड़ता है, वे बिना साधन के हो जाती हैं । इससे समाज में उत्पन्न होने वाली संतान के पोषण और अवस्था पर क्या प्रभाव पड़ता है, यह समझ लेना कठिन नहीं ।

स्त्रियों की इस अवस्था के कारण देश की जनता के स्वास्थ्य पर जो बुरा प्रभाव पड़ता है, उसके कारण अनेक पूँजीवादी सरकारों ने स्त्रियों की रक्षा के लिये मजदूरी सम्बन्धी कुछ नियम बनाये हैं । जिनके अनुसार मिल मालिकों को प्रसव के समय स्त्रियों को

बिना काम किये कुछ तनख्वाह देनी पड़ती है और बच्चा होने पर मिल में काम करते समय माँ को बच्चे को दूध आदि पिलाने की सुविधा भी देनी पड़ती है। इन कानूनी अड़चनों से बचने के लिये मिलें प्रायः विवाहित स्त्रियों को और खास कर बच्चे वाली स्त्रियों को मिल में नौकरी देना पसन्द नहीं करतीं। योरुप में ८० या ९० प्रतिशत लड़कियाँ विवाह से पहले किसी न किसी प्रकार की मजदूरी या नौकरी कर अपना निर्वाह करती हैं या अपने परिवार को सहायता देती हैं परन्तु विवाह हो जाने पर उन्हें जीविका कमाने की सुविधा नहीं रहती। इन कारणों से स्त्रियाँ विवाह न करने या विवाह करने पर गर्भ हटा देने के लिये मजबूर होती हैं। जीविका का कोई उपाय न मिलने पर अपने शरीर को पुरुषों के क्षणिक आनन्द के लिये बेचकर अपना पेट भरने के लिये मजबूर होना पड़ता है।

वैयक्तिक सम्पत्ति के आधार पर क्लासम पूँजीवादी समाज में स्त्री व्यक्ति की सम्पत्ति और मिलिकयत का केन्द्र होने के कारण या तो पुरुष के आधिपत्य में रहकर उसके वंश को चलाने, उसके उपयोग-भोग में आने की वस्तु रहेगी या फिर आर्थिक संकट और बेकारी के शिकंजों में निचोड़े जाते हुए समाज के तंग होते हुए दायरे से, अपनी शारीरिक निर्वलता के कारण—जिस गुण के कारण वह समाज को उत्पन्न कर सकती है, समाज में जीविका का स्थान न पाकर केवल पुरुष के शिकार की वस्तु बनती जायगी। यह अवस्था है साधनहीन गरीब और मध्यम श्रेणी की स्त्रियों की। साधन-सम्पन्न और अमीर श्रेणी की स्त्रियाँ यद्यपि भूख और गरीबी से तड़पती नहीं, परन्तु उनके जीवन में भी आत्म निर्णय और विकास का द्वार बिलकुल बन्द है। समाज के लिये भी वे एक प्रकार से बोर हैं क्योंकि वे जितना

खर्च करती हैं, समाज के लिये उतना काम नहीं करतीं या प्रायः संतान पैदा करने और पुरुष को रिझाने के सिवा वे कुछ भी नहीं करतीं। प्रसिद्ध अर्थशास्त्रज्ञ आदम-स्मिथ ने इन स्त्रियों के विषय में लिखा है कि सम्पन्न श्रेणी की स्त्रियाँ उपयोगी न होकर केवल सजावट के काम की ही हैं।

मार्क्सवाद के विचार से स्त्रियों की यह अवस्था न तो स्वयं स्त्रियों के विकास के लिये और न समाज की बेहतरी के लिये कल्याणकारी है। स्त्रियाँ भी पुरुषों की ही तरह मनुष्य हैं और उनके कंधों पर भी समाज का उत्तरदायित्व उतना ही है, जितना कि पुरुषों के कंधे पर। जब तक स्त्री का शारीरिक और मानसिक विकास स्वतंत्र रूप से न होगा, उसके द्वारा उत्पन्न की हुई संतान भी ऊँचे दर्जे की न होगी। स्त्री को केवल उपयोग और भोग की वस्तु बना कर रखना मनुष्य के जन्म की परिस्थिति को खराब करना है। इसके साथ ही मार्क्सवाद समाज के सुख और वृद्धि के लिये और स्त्रियों के मानसिक और शारीरिक विकास तथा उनका समान अधिकार समाज में होने के लिये स्त्रियों को भी समाज में पैदावार के कार्य में सहयोग देने के अवसर का पक्ष-पाती है। मार्क्सवाद इस बात को स्वीकार करता है कि समाज में सन्तान उत्पन्न करना न केवल स्त्री का बल्कि सम्पूर्ण समाज के सभी कामों में महत्वपूर्ण काम है; क्योंकि मनुष्य-समाज का अस्तित्व इसी पर निर्भर करता है। इस महत्वपूर्ण कार्य के ठीक रूप से होने के लिये अनुकूल परिस्थितियाँ होनी चाहिये। स्त्री को संतानोत्पत्ति मजबूर होकर या दूसरे के भोग का साधन बन कर न करनी पड़े बल्कि वह अपने आपको समाज का एक स्वतंत्र अंग समझ कर, अपनी इच्छा से संतान पैदा करे। संतान पैदा करने के लिये समाज की सभी स्त्रियों के लिये ऐसी परिस्थितियाँ

होनी चाहिये जो स्वयम स्त्री और सन्तान के स्वास्थ्य के लिये अनुकूल हों। गर्भावस्था में स्त्री के लिये इस प्रकार की परिस्थितियाँ होनी चाहिये कि वह अपने स्वास्थ्य को ठीक रख सके और स्वस्थ संतान को जन्म दे सके। परन्तु पूँजीवादी समाज में साधनहीन तथा पूँजीपति दोनों ही श्रेणियों के लिये ऐसी परिस्थितियाँ नहीं हैं। साधनहीन श्रेणी की स्त्रियों को गर्भावस्था में उचित से अधिक परिश्रम करना पड़ता है और पूँजीवादी श्रेणी की स्त्रियाँ विलकुल निश्क्रिय रहने के कारण जैसी संतान पैदा करना सम्भव है, वैसी नहीं करती।

समाजवादी और समष्टिवादी समाज में स्त्री भी समाज का परिश्रम या पैदावार करने वाला अंग समझी जाती है। उसे केवल पुरुष के भोग और रिक्ताव का साधन नहीं समझा जाता। मार्क्सवाद मनुष्य-प्रकृति में आनन्द विनोद और रिक्ताव की जगह भी स्वीकार करता है परन्तु उसमें पुरुष को प्रधान बनाकर स्त्री को केवल साधन बना देना उसे स्वीकार नहीं। पूँजीवादी समाज में स्त्री अपने माता बनने के कार्य के कारण पुरुष (क्योंकि पुरुष जीविका कमा कर लाता है) के सामने आत्मसमर्पण करने के लिये मजबूर होती है। समाजवाद और समष्टिवाद में स्त्री के गर्भवती होने, प्रसव काल और उसके बाद जब तक वह फिर परिश्रम के काम में भाग लेने के योग्य न हो जाय, स्त्री की आवश्यकताओं की पूर्ति और स्वास्थ्य की देख भाल की जिम्मेदारी समाज पर होगी। प्रसव से दो ढाई मास पूर्व से लेकर प्रसव के एक मास पश्चात् तक वह समाज के खर्च पर रहेगी। संतान पैदा होने के बाद समाज जो काम उसे करने के लिये देगा, उसमें बच्चे की देख भाल का समय और सुविधा भी उसे देगा। बच्चे के पालने पोसने और शिक्षा की जिम्मेदारी भी गरीब स्त्री के ही कंधों पर

न होकर समाज के सिर होगी । इस प्रकार संतान पैदा करना स्त्री के लिये भय और मुसीबत का कारण न होकर उत्साह और प्रसन्नता का विषय होगा ।

अनेक पूँजीवादी यह शंका करते हैं कि मार्क्सवाद में स्त्री को स्वतंत्र कर निराश्रय बना दिया जायगा, स्त्री पर से एक पुरुष का बंधन हटाकर उसे समाज की सभी सम्पत्ति बना दिया जायगा । इससे अनाचार और व्यभिचार फैलेगा और मनुष्य पशुओं जैसा व्यवहार करने लगेंगे । मार्क्सवाद स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध को पुरुष की सम्पत्ति और धर्म के भय से जकड़ देने के पक्ष में नहीं । वह यह भी स्वीकार नहीं करता कि एक सन्तान उत्पन्न करने के लिये किसी स्त्री का एक पुरुष विशेष की दासी या सम्पत्ति बन जाना जरूरी है । वह स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध को स्त्री-पुरुष की शारीरिक आवश्यकता का सम्बन्ध मानता है परन्तु इसके लिये वह दोनों में से एक का दूसरे का दास बन जाना आवश्यक नहीं समझता । इस सम्बन्ध में वह कानून के भी दखल देने की जरूरत नहीं समझता परन्तु इसके साथ ही वह स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध की उच्छृंखलता को भी स्वीकार नहीं करता । किसी स्त्री या पुरुष का दूसरों के शारीरिक भोग के लिये अपने शरीर को किराये पर चढ़ाना वह अपराध समझता है । समाजवादी और समष्टिवादी समाज में जीविका के साधन अपनी योग्यता और अवस्था के अनुसार सभी को प्राप्त होंगे, इसलिये जीविका के लिये व्यभिचार से धन कमाने की आवश्यकता हो नहीं सकती और जो लोग पूँजीवादी समाज के संस्कारों के कारण ऐसा करेंगे, वे अपराधी होंगे । संक्षेप में स्त्री-पुरुष और विवाह के सम्बन्ध में मार्क्सवाद समाज के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के विचार से पूर्ण स्वतंत्रता देता है, परन्तु उच्छृंखलता और गड़बड़ या भोग को

पेशा बना लेने को और इसके साथ ही अपने भोग की इच्छा के लिये दूसरे व्यक्तियों और समाज की जीवन व्यवस्था में अड़चन डालने को वह भयंकर अपराध समझता है। स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध में मार्क्सवाद का रुख लेनिन की एक बात से स्पष्ट हो जाता है। लेनिन ने कहा था:—स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध शरीर की दूसरी आवश्यकताओं भूख, प्यास, नींद की तरह ही एक आवश्यकता है। इसमें मनुष्य को स्वतंत्रता होनी चाहिये परन्तु प्यास लगने पर शहर की गन्दी नाली में मुँह डालकर पानी पीना उचित नहीं। उचित है स्वच्छ जल, स्वच्छ गिलास से पीना। स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध मनुष्यों की शारीरिक, मानसिक तुष्टि और समाज की रक्षा के लिये होना चाहिये न कि स्त्री-पुरुषों को रोग और कलह का घर बना देने के लिये। अब तक के पारिवारिक और विवाह सम्बन्धी बन्धन पूँजीवादी आर्थिक संगठन पर क़ायम हैं, जिनमें स्त्री का निरंतर शोषण होता रहा है इसलिये अब बदल कर समाज को स्त्री पुरुष की समानता पर लाना चाहिये।

मार्क्सवाद तथा दूसरे राजनैतिकवाद

औद्योगिक उन्नति से पूँजीवाद का पूरा विकास हो जाने पर समाज के पूँजीवादी संगठन में ऐसी परिस्थितियाँ पैदा होने लगीं जिनके कारण व्यवस्था को बदले बिना समाज का निर्वाह होना कठिन हो गया, जैसा कि हम वर्णन चुके हैं। उदाहरणतः—पूँजीवाद द्वारा पैदावार को बढ़ाने और अधिक जन संख्या को जीवन निर्वाह के पदार्थ अधिक परिमाण में पहुँचाने की जगह पूँजीवाद ने अपना दायरा कम करना शुरू कर दिया। पूँजीपतियों के मुनाफ़े के लिये पैदावार कम करने के लिये जनता की बड़ी संख्या को पैदावार के काम से जुदा करना शुरू किया गया। बेकारी फैलने लगी और बड़ी जन संख्या के लिये समाज के पैदावार और खपत के दायरे में स्थान न रहा। पूँजीवाद ने अपने विकास से जो परिस्थितियाँ पैदा कर दी थीं, उन्हीं परिस्थितियों ने मजदूर और किसानों की ऐसी संगठित शक्ति को जन्म दिया जिसने पूँजीवादी विधान को हटाकर दूसरा विधान (समाजवादी विधान) कायम करने के प्रयत्न शुरू किये। संसार के किसानों और मजदूरों का यह आंदोलन मार्क्सवाद के सिद्धांतों की नींव पर समाजवादी और समष्टिवादी आंदोलन की लहर के रूप में समाज में उठ खड़ा हुआ है परन्तु पूँजीवादी विधान जिसकी जड़ें दूर तक फैली हुई हैं, अनेक श्रेणियों का हित जिसके पक्ष में है, और समाज के मौजूदा संस्कार जिसकी उपज हैं, सरलता से नहीं बदल दिया जा सकता। पूँजीवाद की शक्ति जो पहले अपने फैलाव और विस्तार में लग रही थी, अब

आत्म रक्षा में लग रही है। श्रेणियों का संघर्ष जो मार्क्सवाद के अनुसार समाज के ऐतिहासिक क्रम का आधार है, समाज के इस परिवर्तन काल में उग्र रूप धारण कर प्रकट हो रहा है। जिस प्रकार समाज के सर्वहारा, या साधनहीन लोगों—मजदूर किसानों (Proletariat) का आन्दोलन अपने जीवन की रक्षा के लिये उत्पत्ति के साधनों पर अपना कब्जा कर समाज को समाजवादी या समष्टिवादी विधान में बदल देने के लिये चल रहा है, उसी प्रकार पूँजीवादी श्रेणी और पूँजीवाद की सहायक श्रेणियों के आन्दोलन भी पूँजीवाद को जितनी भी अधिक देर तक सम्भव हो, टिकाने के लिये और अपनी श्रेणियों के अधिकारों की रक्षा के लिये चल रहे हैं। यह आन्दोलन कई रूपों में चल रहे हैं परन्तु मार्क्सवादी इन सभी आन्दोलनों का एक ही प्रयोजन अर्थात् पूँजीवादी श्रेणी और उसकी सहायक श्रेणियों के अपने अधिकारों और स्थिति की रक्षा ही समझते हैं।

साँजूदा परिस्थितियों में पूँजीवाद के आर्थिक विधान और सम्पूर्ण समाज के हित में इनने अधिक प्रकट विरोध पैदा हो गये हैं कि पूँजीवादी सिद्धान्त अर्थात् वैयक्तिक मुनाफे के खुले मुकाबले का समर्थन करना कठिन हो गया है। इसलिये पूँजीवादी शासन से लाभ उठाने वाली श्रेणियाँ पूँजीवादी शासन को प्रायः समाजवादी सिद्धान्तों का रंग देकर बनाये रखने की चेष्टा में हैं। इस प्रयत्न ने अनेक विचारधाराओं और आन्दोलनों को जन्म दिया है। मार्क्सवादी इन विचारधाराओं और आन्दोलनों को किस रूप में देखते हैं; इसका संक्षिप्त चित्र हम क्रमशः करेंगे। पूँजीवादी प्रणाली के कारण उत्पन्न आर्थिक विपत्ति को दूर करने के लिये पैदा हुई इन विचारधाराओं में कौन पूँजीवाद के कितनी निकट है, इसी हिसाब से हम इन्हें क्रमशः लेंगे।

डग्लसवाद (राष्ट्रीय-साख)

(C. H. Douglas' Theory of Social Credit)

पूँजीवादी आर्थिक संकट का उपाय करने के लिये जितनी विचारधारायें निकली हैं, उनमें मेजर सी० एच० डग्लस का सिद्धांत सबसे नवीन है। डग्लस और उसके अनुयायी पूँजीवाद में मौजूद आर्थिक संकट जैसे पूँजीवाद में पर्याप्त पैदावार की सामर्थ्य होने पर भी पैदावार न करना और पैदावार कम करने के लिये लोगों को बेकार कर खपत को घटा देना आदि संकटों को तो स्वीकार करते हैं परन्तु इन सब संकटों को दूर करने के लिये वे पूँजीवादी प्रथा और वैयक्तिक सम्पत्ति और मुनाफ़ा कमाने की प्रणाली को हटाना जरूरी नहीं समझते। डग्लस और उसके अनुयाइयों का दावा है कि पूँजीवादी प्रणाली में परिवर्तन किये बिना ही 'राष्ट्रीय-साख' के बल पर पैदावार के काम को जारी रखा और बढ़ाया जा सकता है। जिससे बेकारी दूर कर खरीदने वाली मजदूर किसान जनता की खरीदने की शक्ति को बढ़ा कर, होने वाली पैदावार को निरंतर बाजारों में बेचा जा सकता है और नई पैदावार की माँग पैदा की जा सकती है।

डग्लस का 'राष्ट्रीय-साख' का सिद्धान्त (Social credit theory) यह है—डग्लस का कहना है कि व्यवसायी लोग बैंकों से पूँजी लेकर कारोबार में लगाते हैं। बैंक से ली गई पूँजी का प्रधान भाग लगता है, मशीनों और इमारतों की कीमत पर और एक छोटा-सा भाग खर्च होता है, तैयार होने वाले सामान पर जो बाजारों में जाता है। परन्तु व्यवसायी को बैंक से उधार ली हुई सम्पूर्ण पूँजी बैंक को लौटा देनी पड़ती है। इसलिये वह बैंक से पूँजी लेकर तैयार किये गये सामान की बाजार से इतनी कीमत

लेता है कि उसमें मशीनरी और इमारतों पर लगाये गये मूल्य के साथ ही बैंक का कर्जा मय सूद पूरा हो जाय ।

व्यवसायी के इस काम का परिणाम यह होता है कि बैंक से उधार लेकर जितना धन बाजार में लाया गया था, उससे कहीं अधिक धन वह बाजार से खींच लेता है, जिससे वह बैंक का कर्जा चुका देने के बाद बहुत सा धन मशीनरी और इमारत के रूप में बचा लेता है । यह सब धन आता है खरीददारों की जेब से । इस प्रकार बाजार में कम धन लाकर बाजार से अधिक धन खींचते जाने का परिणाम होता है कि बाजार में खरीद फरोख्त के लिये धन की कमी होती जाती है और उससे बाजार में विक्री कम होकर माँग कम हो जाती है, इससे पैदावार को कम करने की आवश्यकता महसूस होने लगती है । पैदावार कम करने के प्रयत्न से बेकारी बढ़ती है और बढ़ी हुई बेकारी पैदावार को और कम करने के लिये मजबूर करती है ।

डग्लस का विचार है कि सब विपत्ति का कारण है बाजार से धन का खिंच खिंच कर बैंकों में जमा होते जाना और जनता की जेब खाली होते जाना । इसलिये इसका उपाय डग्लस के विचार में यह है कि बैंक अपने दिये हुए कर्जों को वापस न लें और व्यवसायी लोग बाजार से इतना अधिक मुनाफ़ा न लें और मजदूरों को मजदूरी भी अधिक दें ताकि इन लोगों की खरीद फरोख्त की ताकत बढ़ती जाय । बैंक जो रुपया व्यवसायियों को कर्ज दे, वह सरकार या राष्ट्र की जिम्मेदारी पर हो । बैंकों को इस समय पूँजी की कमी नहीं बल्कि पूँजी को लगाने के लिये उन्हें मुनाफ़े के व्यवसाय नहीं मिलते । राष्ट्र के लिये धन की कोई भी रकम व्यवसायियों के व्यवसाय और पैदावार की वृद्धि के लिये दे देना कठिन नहीं; न इसमें किसी आपत्ति की ही शंका है; क्यों

कि सरकार कागज के सिक्के (नोटों) के रूप में जितना धन चाहे तैयार कर सकती है । इस प्रकार सरकार को साख और जिम्मेदारी पर बैंकों का धन या पूँजीपतियों की पूँजी व्यवसाय और पैदावार में लगकर मजदूरी के रूप में लगातार बाजार में जाती रहेगी और समाज में पैदावार और खरीद फरोख्त (बँटवारे) की मशीन चलती रहेगी । डग्लस इस उपाय से समाज में आने वाले आर्थिक संकट से बचने का उपाय भी देखता है और इसके साथ ही पूँजीवादी प्रणाली और निजी सम्पत्ति की प्रथा को भी दूर करने की जरूरत नहीं देखता ।

माक्सवादियों को डग्लस की इस राष्ट्रीय-साख की आयोजना में कई अपत्तियाँ हैं । प्रथम तो व्यवसायों को आसानी से पूँजी प्राप्त होने पर पैदावार करने वाले व्यवसायों की संख्या एकदम बढ़ जायगी और मजदूरों की जेब में भी एकदम से रुपया आने लगेगा परन्तु पैदावार उतनी जल्दी न बढ़ पायेगी । बहुत शीघ्र ही जनता की जेब में मौजूद रुपये की तादाद बाजार में मौजूद वस्तुओं से बहुत अधिक बढ़ जायगी और अन्त में चीजों का दाम रुपये के रूप में बहुत बढ़ जाने से, रुपये का मोल घट जायगा । जिस पदार्थ के लिये पहले एक रुपया देना पड़ता था, उसके लिये दस देने पड़ेंगे । ऐसी अवस्था में दम रुपये की उपयोगिता पहले समय के एक रुपये के दो बराबर होगी । ऐसी अवस्था में आम जनता को लाभ तो कोई न होगा अलबत्ता सरकार की साख गिर जायगी ।

माक्सवादियों का कहना है, डग्लस-आयोजना इस बात को तो स्वीकार करती है कि पैदावार को घटाने और बेकारी फैलाने का कारण पूँजीपतियों द्वारा मुनाफ़ा कमाने की कोशिश है परन्तु मुनाफ़ा कमाने पर वह कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाना चाहती । बैंकों

के अपनी पूँजी पूँजीपतियों या व्यवसाइयों से पूँजी वापिस न लेने या सरकार द्वारा व्यवसाइयों को व्यवसाय के लिये पूँजी देने का अर्थ यह होगा कि अस्थायी तौरपर एक बड़े उद्योग धन्यों और व्यापार में खूब बढ़ती हो जायगी परन्तु इस सब व्यापार और व्यवसाय में पूँजीपतियों और व्यवसाइयों के कामकाज का बुनियादी उद्देश्य बड़ी मुनाफ़ा कमाना रहेगा और आपस में स्वार्थ से पूँजीपति मुक़विला कर एक दूसरे से अधिक मुनाफ़ा कमाने का यत्न करते ही रहेंगे। इसका परिणाम यह होगा कि पूँजीपति राष्ट्र की सार्व और पूँजी से अपने स्वार्थ का खेल खेलेंगे। पूँजीपति जब एक दूसरे को असफल कर अपनी वृद्धि करेंगे, तो स्वाभाविक ही अनेक व्यवसायों और उद्योगों का दिवाला निकल जायगा और उन व्यवसायों और उद्योग धंदों में लगा समाज का परिश्रम व्यर्थ जायगा। क्योंकि जो व्यवसाय जितने बड़े होंगे वे प्रतिशत कम मुनाफ़े पर भी अधिक लाभ उठाकर छोटे व्यवसायों को समाप्त कर देंगे।

इंग्लिस आयोजना के समर्थकों का दावा है कि वे गरीब—साधनहीन और पूँजीपति दोनों श्रेणियों की भलाई चाहते हैं और समाज की मौजूदा व्यवस्था में पैदावार कम करने के कारणों और बेकारों को दूर कर स्मृद्धि लाना चाहते हैं। मार्क्सवादियों का कहना है कि इस आयोजना के अनुसार समाज की सार्व और शक्ति पूँजीपतियों के हाथ का खिलौना बन जायगी। समाज या सरकार का धन और सार्व जो परिश्रम करने वाली श्रेणियों के परिश्रम से पैदा होती है, रहेगी केवल मुनाफ़ा खाने वाली श्रेणियों के हाथ में क्योंकि मुनाफ़ा कमाने का कायदा कायम रहेगा। इस अवस्था में जितना अधिक धन बाज़ार में आयगा पूँजीपति को उतना ही अधिक मुनाफ़ा होगा और यह रूपया फिर बाज़ार से हट कर पूँजीपति की तिजोरी में बन्द हो जायगा।

यदि कहा जाय कि डग्लस आयोजना के अनुसार मुनाफ़े का भाग विलकुल घटा दिया जायगा तो इस बात का भी ध्यान रखना होगा कि सभी व्यवसाय एक ही दर्जे पर नहीं हैं। किन्हीं व्यवसायों की मशीनरी इस प्रकार की है कि वे दूसरे व्यवसायों के दाम पर अपना माल बेचकर ही काफ़ी मुनाफ़ा उठा सकते हैं। आये दिन जब इन लोगों के पास पूँजी की बड़ी मात्रा इकट्ठी हो जायगी तो कोई वजह नहीं कि दूसरे पूँजीपतियों के व्यवसायों और उनमें काम करने वाले मजदूरों को यह मटियामेट न कर दें।

आज के आर्थिक संकट में यदि व्यवसायी और कल-कार-खाने वाले बैंकों के नियंत्रण से परेशान हैं और अपना काम चलाने के लिये सरकारी साख से लाभ उठाना चाहते हैं तो कल इन्हीं लोगों के हाथ में पूँजी जमा हो जाने पर यह अपनी पूँजी से जो खेल चाहेंगे खेलेंगे और इन्हें सरकार की साख की जरूरत न रहेगी। आज भी तो ऐसे पूँजीपति हैं जिन्हें सरकारी साख की जरूरत नहीं। स्वयम् पूँजीवादी न्याय की धारणा से यह बात उचित नहीं जान पड़ती कि बैंकों के मालिक अपनी पूँजी को जैसे चाहें वैसे इस्तेमाल न कर सकें परन्तु कल-कारखानों के मालिक उसे जिस प्रकार चाहें व्यवहार में ला सकें।

डग्लस आयोजना से अंतर्राष्ट्रीय पूँजीवादी कलह के दूर करने का भी उपाय नहीं हो सकता बल्कि इस आयोजना से यह झगड़ा अधिक उग्ररूप धारण कर सकता है। क्योंकि किसी भी राष्ट्र के व्यापारी जब अपने राष्ट्र की साख और सम्पत्ति के सहारे अपने देश की जनता को मजदूरी देने के लिये अपने सौदे से दूसरे देशों के बाजारों पर आक्रमण करेंगे, उस समय उनके राष्ट्र की शक्ति को उनकी रक्षा के लिये दूसरे राष्ट्रों से झगड़ा मोल लेना ही पड़ेगा।

डग्लस आयोजना का अधिक से अधिक परिणाम यह हो सकता है कि वह कुछ समयके लिये बाजार को तेज कर कुछ नये पूँजीपति खड़े करने के बाद बेजान हो जाय । परिश्रम करनेवाली श्रेणी को अपनी अवस्था सुधारने और अपने भाग्य का स्वयम् मालिक होने का अधिकार इस आयोजना से नहीं मिल सकता । डग्लसवादियों का कहना है कि इनकी आयोजना से समाज में पैदा होनेवाली सम्पत्ति का वँटवारा साधनहीन श्रेणियों में अधिक अच्छी तरह होगा ; क्योंकि वे मजदूरी अधिक देने और मुनाफ़ा कम लेने का समर्थन करते हैं । मार्क्सवादियों की दृष्टि में यह बात निरर्थक है । उनका कहना है कि वँटवारा होता है स्वामित्व के आधार पर । पैदावार का वँटवारा सामाजिक हित के अनुकूल हो, परन्तु सम्पत्ति रहे पूँजीपतियों के हाथ में, यह सम्भव नहीं । समाज में समान रूप से वँटवारा होने के लिये यह जरूरी है कि पैदावार के साधन भी समाज के हाथ में रहें ।

राष्ट्रीय पुनःसंगठन

(N. R. A. of America)

और सभी देशों की अपेक्षा पूँजीवाद का विकास अमेरिका में बहुत दूर तक और बहुत तेजी से हुआ है । अमेरिका की पैदावार की शक्ति और पूँजी दूसरे देशों की अपेक्षा कहीं अधिक है । अपनी पैदावार की शक्ति के भरोसे पिछले महायुद्ध में अमेरिका ने योरुप के राष्ट्रों को अपनी पूँजी के जाल में बाँध लिया था । पिछले युद्ध के बाद जब योरुप के देश परस्पर महानाश का खेल खेलकर अपने पैदावार के साधनों को कुछ समय के लिये बेकाम कर चुके थे, अमेरिका को पूरी तेजी से अपनी पूँजीवादी रफ़्तार को बढ़ाने का मौका मिला और वास्तव में उस समय अमेरिका अकेला संसार भर के बाजारों की माँग पूरी कर रहा

था। परन्तु योरुप के देशों के सँभलने के बाद अमेरिका के बाजारों का क्षेत्र कम होने लगा। अमेरिका के पूँजीपतियों ने पैदावार कम करनी शुरू की और अमेरिका में भयंकर बेकारी के कारण त्राहि त्राहि मच गई। एक ओर तो पैदावार के साधन खूब उन्नति कर चुके थे दूसरी ओर बेकारी भी खूब बढ़ गई। पदार्थों के दाम बहुत घट गये थे परन्तु क्षेत्र में पैसा न होने के कारण जनता उन्हें खरीद न सकती थी। पूँजीपति अपनी विशाल पूँजी का कोई उपयोग न देखकर उसे विदेशों में लगा रहे थे। उस समय अमेरिका की अवस्था का अन्दाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि बेकारों की संख्या वहाँ १५०,०००,०० तक पहुँच गई। जब कि अमेरिका की जनसंख्या केवल ग्यारह करोड़ के लगभग थी।

उस समय भी अमेरिका के कुछ पूँजीवादी व्यक्तिगत स्वतंत्रता की दुहाई दे इसी बात की पुकार उठा रहें थे कि व्यापार और व्यवसाय को स्वयं अपना रास्ता तै करने दिया जाय, *Laissez Faire*) व्यक्तियों की आर्थिक स्वतंत्रता में दखल देना ठीक नहीं। यही समय था जब अमेरिका के नये प्रेज़ीडेंट के चुनाव का समय आ गया। अमेरिका में प्रेज़ीडेंट का चुनाव इस बात को प्रकट कर देता है कि राष्ट्र किस नीति का समर्थन करता है।

सन १८३० में जिस समय नये प्रेज़ीडेंट के चुनाव का प्रश्न आया, प्रेज़ीडेंट के पद के लिये दो उम्मीदवार थे और राष्ट्र के सामने उस भयंकर आर्थिक संकट का हल करने के लिये भी दो नीतियाँ थीं। एक उम्मीदवार मि० हूवर थे जो व्यापार के मार्ग और पूँजीपतियों की व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर कोई बन्धन नहीं

❧ विज्ञान की सहायता से मशीनें पैदावार को कितना बढ़ा सकती हैं, इस बात के लिये अमेरिका बहुत अच्छा दृष्टान्त है।

लगाना चाहते थे । उनका विश्वास था कि अवस्था स्वयम ही सुधरेगी ; इसे छेड़ना नहीं चाहिये । दूसरे उमीदवार थे मि० फ्रैंकलिन रूजवेल्ट जो राष्ट्र की आर्थिक नीति में भयंकर परिवर्तन किये बिना राष्ट्र की रक्षा का कोई उपाय नहीं देखते थे । रूजवेल्ट ने कहा हमारी आर्थिक व्यवस्था के ताश का खेल बिलकुल बिगड़ गया है अब गद्दी को नये सिरे से पीसना (a new deal) जरूरी है । रूजवेल्ट ने जो नया आर्थिक कार्यक्रम राष्ट्र के सामने रखा उसके विषय में लोगों की राय दो तरह की थी । कुछ का ख्याल था कि यह कार्यक्रम समाजवाद की ओर पहला कदम है । दूसरों की राय थी कि यह पूँजीवाद का अन्तिम मोर्चा है* । वास्तव में अपने अपने दृष्टिकोण से यह दोनों ही बातें ठीक थीं । यदि रूजवेल्ट की नीति उस समय अमल में न लाई जाती तो अमेरिका में क्रान्ति का प्रयत्न हुए बिना न रहता । यह कहना ठीक ही है कि रूजवेल्ट की नीति ने अमेरिका को पूँजीवाद द्वारा उत्पन्न होगई कठिन परिस्थिति से बचा दिया ।

जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं उस समय अमेरिका में बेकारों की संख्या १५०,०००,०० तक पहुँच गई थी और इतने आदमियों के बेकार होजाने के कारण बाजारों की माँग भी बेहद घट गई थी और बेकारी का और अधिक तेजी से बढ़ना भी जरूरी था । इसका एक उपाय था कि काम पर लगे मजदूरों की मजदूरी कम किये बिना उनसे कम घण्टे काम कराया जाय और शेष घण्टों में काम करने के लिये बेकार मजदूरों को पूरी मजदूरी पर लगाया जाय । रूजवेल्ट की इस नीति का विरोध अमेरिका के पूँजीपतियों ने पूरी शक्ति से किया परन्तु आर्थिक संकट से व्याकुल

* The first step towards socialism or the last stand of capitalism.

जनता को रुजवेल्ट पर विश्वास था और उसकी आयोजना को कांग्रेस ने पास कर दिया। इस आयोजना का नाम—राष्ट्रीय पुनः संगठन विधान (National Recovery Act N. R. A.) था इस आयोजना में मुख्य बातें यह थीं :—

“सब मजदूरों के लिये—सिवा उनके जो अभी काम सीख रहे हैं या छुट्टा काम करते हैं—कम से कम मजदूरी निश्चित कर दी जाय और यह मजदूरी अमेरिका के दक्षिणी भागों में दस डालर और उत्तरी भाग में ग्यारह डालर प्रति सप्ताह होनी चाहिए।”

“किसी मजदूर या मिल के नौकर को एक सप्ताह में चालीस घण्टे से अधिक काम न करने दिया जाय।”

“कोई मिल या कारखाना सप्ताह में अस्सी घण्टे से अधिक काम न करे।”

“मजदूरों को इस बात का अधिकार दिया गया कि वे अपना श्रेणी संगठन कर सकें और अपनी मजदूरी आदि के लिये मालिकों से अपने संगठन के प्रतिनिधियों द्वारा भाव तोल कर सकें।”

अमेरिका के मजदूरों ने भी अपनी तजवीजें इस आर्थिक संकट को दूर करने के लिये पेश कीं। उनकी तजवीजों में कोई दूसरी नीति नहीं थी ; भेद था केवल मजदूरी के दर में। आयोजना में कम से कम मजदूरी निश्चित की गई थी दस और ग्यारह डालर प्रति सप्ताह, मजदूर चाहते थे इकतीस और सत्ताइस

६ एक डालर लगभग तीन रुपये के होता है। डालर और रुपये का सम्बन्ध बदलता रहता है।

† कुछ खास कामों, जैसे मैनेजर, चौकीदार या इस तरह के दूसरे कामों को छोड़कर।

डालर तक । मजदूरों का कहना था कि एक मामूली मजदूर परिवार का निर्वाह स्वास्थ्य के लिये आवश्यक वस्तुओं और मनुष्यों की तरह निर्वाह करने के लिये उनके द्वारा माँगी गई मजदूरी से कम में नहीं हो सकता । कुछ सुधारों के बाद मजदूरों की साप्ताहिक मजदूरी कम से कम बारह डालर पर और काम के घण्टे प्रति सप्ताह तीस निश्चित करके इस आयोजना को आरम्भ किया गया ।

इसके साथ ही खेती के पुनः संगठन की आयोजना (A. A. ७) भी की गई । जिसमें खेती की उपज के पदार्थों का मूल्य बढ़ाने और उपज को घटाने के लिये सरकार ने हजारों बीघा ज़मीन स्वयम् लगान पर लेकर खाली छोड़ दी । और पैदावार करने वालों पर खास खास परिमाण में ही फसलें पैदा करने के लिये प्रतिबन्ध लगा दिये ।

अमेरिका के राष्ट्रीय औद्योगिक पुनः संगठन और खेती के पुनः संगठन को जब मार्क्सवादियों के दृष्टिकोण से देखते हैं तो पहला प्रश्न खेती की उपज के दाम बढ़ाने पर ही उठता है । इसमें तो संदेह नहीं कि इससे पैदावार करने वाले किसान को तो कुछ लाभ हुआ, परन्तु यह बढ़ा हुआ दाम दिया किसने ? स्पष्ट है—गरीब और बेकार मजदूरों ने, जिनके पास निर्वाह के लिये पर्याप्त दाम पहले ही नहीं था । अमीरों को भोजन का दाम बढ़ने से कोई संकट अनुभव नहीं हो सकता था । इसके बाद सवाल उठता है—सरकार ने जो लाखों बीघा ज़मीन लगान पर लेकर खाली छोड़ दी, उसके लिये रकम कहाँ से आई ? स्पष्ट है—पैदावार पर टैक्स लगाकर यह रकम वसूल की गई और यह टैक्स भी गरीब जनता को ही भरना पड़ा जिन्हें महँगा भोजन खरीदना पड़ा ।

यही अवस्था हम औद्योगिक पैदावार के क्षेत्र में भी देखते हैं। पूँजीपति लोग अपनी पूँजी को नक़द रुपये के रूप में कभी नहीं रखते, वह रहती है पैदावार के साधनों, मिलों, मशीनों, भूमि या मकानों के रूप में या कच्चे माल के रूप में। जब कीमतें बढ़ा दी जायँगी तो उसका असर पड़ेगा केवल उन लोगों पर, जो अपने निर्वाह की वस्तुयें प्रतिदिन बाज़ार से ख़रीदकर गुज़ारा करते हैं। जब मज़दूर को चीज़ें महँगी मिलेंगी और उसकी मज़दूरी में उतनी बढ़ती नहीं होगी तो मज़दूर को निर्वाह के लिये मिलने वाले पदार्थों में कमी आजायगी, उसका कष्ट बढ़ जायगा। परन्तु पूँजीपति को इससे फ़ायदा होगा क्योंकि उसकी पैदावार या माल का मूल्य उसे पहले से अधिक मिलेगा और मज़दूरी उसे उतनी अधिक न देनी पड़ेगी जितना कि दाम बढ़ेगा। परिणाम में उसे अपने माल पर पहले से अधिक लाभ होगा। इस बात को हम यों भी कह सकते हैं कि उसे अपना माल तैयार करने के लिये मज़दूरी के रूप में जितना खर्च पहले करना पड़ता था अब उससे कम करना पड़ेगा और मुनाफ़े की गुंजाइश अधिक रहेगी। इस प्रकार अपना माल उसे दूसरे देशों में बेचने में आसानी होगी। पूँजीवादी अपने माल को अपने देश में बढ़ी हुई कीमत पर बेचकर मज़दूर की किसी कदर बढ़ी हुई मज़दूरी में दिया गया धन वापिस ले ही लेगा, इसके अलावा विदेश में वह अपना माल सस्ता बेच सकेगा। जिस प्रकार आज जापान और इंग्लैण्ड कर रहे हैं।

अमेरिका में बेकारी को घटाने और शरीरों की ख़रीदने की शक्ति को बढ़ाकर आर्थिक अवस्था में सुधार लाने के इस प्रयत्न का जो परिणाम हुआ यह आगे दिये अंकों से प्रकट होगा। अमेरिका के इस पुनः संगठन में प्रयत्न किया गया था, खेती की तथा

दूसरी पैदावार को कम करने का । मार्क्सवादी प्रश्न करते हैं, क्या अमेरिका में पैदावार वास्तव में इतनी अधिक थी कि अमेरिका की जनता की सभी आवश्यकतायें पूरी हो जाने के बाद भी वह बच रही थी और क्या फिर संसार के दूसरे देशों में भी उस पैदावार की जरूरत नहीं थी ? यह कहना सम्भव नहीं कि पैदावार वास्तव में ही आवश्यकता से अधिक थी । फिर भी पैदावार को घटाने या नष्ट करने का मतलब स्पष्ट तौर पर जनता का लाभ नहीं बल्कि पैदावार के मालिक पूँजीपतियों और अमेरिका के बड़े बड़े जमींदारों का ही लाभ था ।

इस आयोजना का दूसरा उद्देश्य था मजदूरों की मजदूरी बढ़ाकर उनकी खरीद सकने की ताकत बढ़ाना । इस उद्देश्य में कितनी सफलता मिली इसका अन्दाजा अमेरिका के व्यवसाय की रिपोर्ट के आँकड़ों से लग सकता है । इस संगठन के बाद अमेरिका की पैदावार में ३१% की वृद्धि प्रति सप्ताह हुई लेकिन मजदूरों को दिये जाने वाले धन में केवल ६३% से ६६% की वृद्धि हुई । इसका स्पष्ट मतलब यह है कि पैदावार में वृद्धि होने से धन मजदूरों के पास नहीं गया बल्कि पूँजीपतियों की जेब में गया । यह बढ़ी हुई पैदावार कहाँ गई ; यह पता लग जाता है, अमेरिका से बाहर जाने वाले माल की रिपोर्ट देखने से । इस समय में अमेरिका से विदेश जाने वाले माल में २४% से ३२% तक बढ़ती हुई । बेकारों की संख्या की रिपोर्ट देखने से पता चलता है कि जिस समय यह आयोजना आरम्भ हुई उस समय अमेरिका में बेकारों की संख्या १५०,००,००० थी । काम के घण्टे वगैरा घटाकर या नये व्यवसाय शुरू होने पर १८,२०००० आदमियों को स्थायी

❖ अमेरिका की इस आयोजना से लाखों मन अनाज समुद्र में फेंक दिया गया या इंधन की जगह भट्टियों में जला डाला गया ।

तौर पर काम मिल गया और प्रायः ४६,००००० को अस्थायी तौर पर ।

मजदूरों की मजदूरी बढ़ाने से उन्हें क्या लाभ हुआ यह भी रिपोर्ट के अंकों से मालूम हो जाता है । मजदूरों की मजदूरी बढ़ाई गई लगभग ३३% और पदार्थों के मूल्य में बढ़ती होगई ५३% की । इससे मजदूर को २% का घाटा ही रहा । इससे मजदूरों की अवस्था में सुधार होकर पदार्थों के खरीदने की उनकी शक्ति नहीं बढ़ सकती थी । यदि मजदूरों की अवस्था सुधारना ही उद्देश्य था, तो मजदूरों की मजदूरी बढ़ाना और उनसे कम समय तक काम कराना चाहिये था परन्तु ऐसा करने से पूँजीपतियों का मुनाफ़ा घट जाता, पूँजीपति सरकार की नीति से विगड़ उठते और रुजवेल्ट साहब द्वारा प्रेज़ीडेंट नहीं चुने जा सकते थे ।

अमेरिका की राष्ट्रीय पुनः संगठन की आयोजना को देख लेने के बाद हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि यह समाजवाद की ओर पहला क़दम नहीं था बल्कि संकट में आये पूँजीवाद को बचाने का प्रयत्न था । यह सम्भव है कि पूँजीवादी प्रणाली में उठ खड़ी होने वाली अड़चनों को देखकर जो कि मुनाफ़े के कुछ आदमियों के हाथ में इकट्ठे होजाने और शेष बड़ी संख्या की जेब खाली हो जाने के कारण पैदा हो जाती हैं, रुजवेल्ट ने धन के कुछ भाग को मजदूरों की जेब में पहुँचाने का प्रयत्न किया हो परन्तु पूँजीवादियों के हाथ में ही सम्पूर्ण शक्ति रहने के कारण वह सफल न हो सका । परिणाम इसका यह हुआ कि पूँजीवादियों ने अपना नियंत्रण और भी कठोर कर लिया और अमेरिका का आर्थिक संकट जिसकी ओर से आँख बन्द करने की चेष्टा की गई थी फिर से उग्र रूप में उठने लगा । मौजूदा युद्ध से पहले अमेरिका में फिर लगभग एक करोड़ आदमी बेकार होगये थे

और फिर पैदावार को घटाने की फिक्र पूँजीवादियों के सिर पर सवार हो रही थी। हो सकता है मौजूदा योद्धाओं के कारण जब कि अमेरिका को युद्ध की सामग्री तैयार करने और चीन, जापान और इंग्लैण्ड को माल पहुँचाने का मौका मिल रहा है, यह आर्थिक संकट कुछ दिन और टल जाय परन्तु इस प्रकार संकट को सदा के लिये नहीं टाला जा सकता, उसका सामना तो एक दिन करना ही पड़ेगा। अमेरिका की राष्ट्रीय संगठन की आयोजना की असफलता इस बात को स्पष्ट कर देती है कि पूँजीवादी प्रणाली का यह अवश्यन्मात्री परिणाम है कि वह अपने मार्ग में छुट रुकावटें खड़ी कर देती है।

अमेरिका की राष्ट्रीय पुनः संगठन की आयोजना ने यह बात तो स्पष्ट कर दी है कि पूँजीवादी प्रणाली का यह सिद्धान्त कि व्यापार और व्यवसाय में व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए, मुनाफा कमाने के मुक़ाविले पर किसी प्रकार का प्रतिबंधन नहीं होना चाहिये पूँजीवाद द्वारा पैदा की गई कठिनाइयों में लागू नहीं हो सकता। सरकार को जिसके कि हाथ में समाज के शासन की शक्ति है आर्थिक व्यवस्था में दखल देना ही पड़ेगा और समाज की आर्थिक व्यवस्था के बिगड़ जाने से बचाने के लिये विधान तैयार करना ही होगा। अब प्रश्न यह उठता है कि यह विधान तैयार कौन करेगा? पूँजीवादी प्रणाली में शासन करने वाली पूँजीपति श्रेणी या समाज का वह अंग जिसकी संख्या हजार में से नौ सौ निन्यानवे हैं और जिन्हें मार्क्सवादी साधनहीन किसान और मजदूर कहते हैं? आर्थिक विधान समाज की जिस श्रेणी के हाथ में रहेगा वह उसे अपने ही हित के अनुकूल चलायेगी। अमेरिका में यह विधान रहा है पूँजीपति श्रेणी के हाथ में और उसका परिणाम सामने आ गया। पूँजीवादी प्रणाली

ने समाज की आर्थिक अवस्था को इस हालत में पहुँचा दिया है कि व्यक्तिगत लाभ की स्वतंत्रता देकर उसका काम चल नहीं सकता, उस पर नियंत्रण रहना जरूरी है। वह नियंत्रण पूँजीपति श्रेणी के हित की रक्षा के लिये रहना चाहिए या समाज के शोष भाग अर्थात् पैदावार के लिये मेहनत करनेवालों के हित की रक्षा के लिये—यह विचार का विषय है। पूँजीपति श्रेणी का नियंत्रण फासिज्म और नाजिज्म के रूप में और मजदूर-किसानों का नियंत्रण कम्युनिज्म के रूप में प्रकट होता है।

नाजीवाद और फ़ैसिस्टवाद

पिछले बीस वर्ष से पूँजीवादी आर्थिक प्रणाली में इस प्रकार की कठिनाइयाँ आ रही हैं कि समाज की आर्थिक व्यवस्था पर समाज की शक्ति या सरकार का नियंत्रण होना एक प्रकार से आवश्यक हो गया है। इसलिये इस समय संसार के सामने प्रश्न यह है कि मनुष्य समाज फ़ैसिज्म और नाजिज्म को अपनायेगा या कम्युनिज्म को ?

फ़ैसिज्म और नाजिज्म के रूप तथा उद्देश्य को हम फ़ैसिज्म और नाजिज्म के जन्मदाता बेनीतो मुसोलिनी और अडोल्फ हिटलर के शब्दों में ही अधिक अच्छी तरह प्रकट कर सकते हैं। मुसोलिनी फ़ैसिज्म के बारे में कहता है :—

“.....यदि इतिहास में प्रत्येक युग का अपना एक सिद्धान्त रहा है, तो आधुनिक युग का सिद्धान्त फ़ैसिज्म है। किसी भी सिद्धान्त के लिये यह आवश्यक है कि वह एक जीवित सिद्धान्त हो। फ़ैसिज्म के प्रति लोगों के विश्वास, श्रद्धा और उसकी सफलता ने प्रकट कर दिया है कि वह एक जीवित सिद्धान्त है। फ़ैसिज्म केवल एक राजनैतिक दल ही नहीं, वह जीवन का ‘दर्शन शास्त्र’ है, जो

मनुष्य-समाज को निरन्तर संकटों और युद्ध से बचाकर विकास और पूर्णता की ओर ले जा सकता है।..... पिछले वर्षों की आर्थिक अव्यवस्था और युद्धों ने कम्यूनिज्म के अजगर को जन्म दिया है जो राष्ट्रीय अभिमान, देश भक्ति, धर्म, पारिवारिक जीवन और उच्च श्रेणी को निगले जा रहा है। कम्यूनिज्म से बचने के लिये ही मैं फैसिज्म की शरण आया हूँ।..... फैसिज्म के अनुसार राष्ट्र-सरकार एक आध्यात्मिक और नैतिक शक्ति है जो आचार और कर्तव्य की रक्षक है। राष्ट्र या सरकार न केवल देश और प्रजा की रक्षा बाहिरी शत्रु और देश में होने वाली अव्यवस्था से करती है, बल्कि वह प्रजा की आत्मा की भी रक्षा और उन्नति करती है। वह व्यक्ति से ऊपर देश की आत्मा है।”

इटालियन विश्वकोष (Italian Encyclopædia) में फैसिज्म का वर्णन करते हुए मुसोलिनी कहता है—“भविष्य में फैसिज्म का उद्देश्य और कार्य संसार में निरन्तर शान्ति कायम रखना नहीं है। इस प्रकार की शान्ति को न तो हम सम्भव समझते हैं और न उपयोगी ही। शान्ति की इच्छा को हम त्याग और कायरता के कारण पैदा होने वाली भावना समझते हैं। मनुष्य समाज को उसके ऊँचे आदर्श और विकास की ओर युद्ध ही ले जा सकता है। युद्ध ही मनुष्य में शक्ति और आचार-बल को उत्पन्न करता है।..... जो सिद्धान्त युद्ध का विरोध कर शान्ति का प्रचार करते हैं, वे सब फैसिज्म के विरोधी हैं।”

नाज़िज्म के कार्यक्रम और उद्देश्य को व्याख्या करते हुए हिटलर कहता है “..... आज जिस भूमि पर हम टिके हुए हैं वह भूमि हमें देवताओं ने वरदान के रूप में नहीं दी है न दूसरी जातियों ने हमें इस भूमि का दान दिया है। हमारे वुज्जुर्गों ने भूमि के इस टुकड़े के लिये जान जोखिम में डालकर युद्ध किया

है और इसे तलवार के बल पर जीता है.....जीवन का यही मार्ग है ।”

मुसोलिनी और हिटलर के शब्दों में फ़ैसिज्म और नाज़िज्म के आधार भूत विचारों को देख लेने के बाद हमें उनके कार्यक्रम और प्रभाव पर भी एक दृष्टि डाल लेनी चाहिये । फ़ैसिज्म और नाज़िज्म अपने आपको अपने राष्ट्रों की प्रजा की एक जीवित संस्था समझते हैं जो चारों ओर शत्रुओं से घिरी हुई है । अपने राष्ट्र की रक्षा के लिये दूसरे राष्ट्रों से लड़कर उन्हें अपने आधीन करना फ़ैसिज्म और नाज़िज्म का उद्देश्य है । संसार के दूसरे देशों को जीतकर, इटली के आधीन कर एक बड़ा साम्राज्य क़ायम करना फ़ैसिज्म का उद्देश्य है और नाज़िज्म का दावा है :—जर्मन जाति ही केवल शुद्ध आर्य जाति है और यह जाति संसार पर आधिपत्य क़ायम करने का अधिकार रखती है । जर्मनी की सीमा पर स्थित छोटे छोटे देशों को अपने क़ब्जे में कर लेने के बाद जर्मनी दूसरे देशों पर भी क़ब्ज़ा करेगा और सबसे पहले रूस की उपजाऊ भूमि और खानें जीतकर अपनी शक्ति को बढ़ाने के बाद संसार पर अपना आधिपत्य क़ायम करने लायक शक्ति संचय करेगा ।

❖ प्रायः यह ख़याल किया जाता है कि कोई उत्तरदायी और समझदार व्यक्ति इस प्रकार की बेहूदा बातें लिखने या कहने का साहस नहीं कर सकता । परन्तु जूलियस हैकर (Julius F. Hecker, Ph. D.) अपनी पुस्तक “The Communist answer to the world's need” में लिखता है कि यह बातें हिटलर की पुस्तक ‘Mein Kampf’ जो मूल जर्मन भाषा में है, के पृष्ठ ७४१-७४२ पर हैं । हिटलर की पुस्तक के जो अनुवाद नाज़ी और फ़ैसिस्ट विचार के लोगों ने किये हैं, उन में यह पृष्ठ और दूसरी कई बातें नाज़िज़्म के प्रति विरोध की भावना को दूर रखने के लिये छोड़ दी गई हैं परन्तु पूर्ण अनुवाद में यह सब बातें अवश्य मिलेंगी ।

अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों द्वारा साम्राज्य विस्तार की चेष्टा इन दोनों सिद्धान्तों का मूल आधार है। संसार के सब राष्ट्रों या देशों का एक समान अधिकार स्वीकार करने का विचार इन सिद्धान्तों में पैदा ही नहीं होता।

इंग्लैण्ड का फ़ैसिस्ट और नाज़ीवादी नेता सर ओसवल्ड मोस्ले प्रजातंत्र को एक धोखा समझता है। मोस्ले का कहना है कि प्रजा ने न कभी अपना शासन किया है और न वह कर ही सकती है। शक्ति सदा कुछ लोगों के हाथ में रहती है, जो पर्दे के पीछे से तार खींच कर चाहें जिस नीति को चला सकते हैं। पार्लियामेण्ट सिर्फ़ एक अखाड़ा है, जहाँ जवानों कुश्ती हुआ करती है। देश का शासन राष्ट्र के उन लोगों के हाथ में रहना चाहिये जो इसके योग्य हैं और जिनके हाथ में शक्ति है। प्रजातंत्र का ढोंग बाँवने से केवल समय और शक्ति का नाश होता है। शासन का काम चलाने के वे ही लोग योग्य हैं, जो सदा से इस काम को करते आये हैं।

समाज की आर्थिक और राजनैतिक व्यवस्था के सम्बन्ध में फ़ैसिज़्म और नाज़ीज़्म सन्पूर्ण शक्ति सरकार के ही हाथ में रखना चाहते हैं। उनका कहना है कि एक व्यक्ति न तो अकेला रह सकता है और न उसे केवल अपने हित के लिये मनमानी करने की स्वतंत्रता होनी चाहिये। राष्ट्रीय संगठन या सरकार सन्पूर्ण राष्ट्र की प्रतिनिधि है। सरकार के बिना समाज की रक्षा नहीं हो सकती इसलिये सरकार ही सबसे ऊपर है। राष्ट्र या सरकार के सामने व्यक्ति की कोई हस्ती नहीं। राष्ट्र के हित के सामने सब श्रेणियों और व्यक्तियों को दब जाना चाहिये। राष्ट्र या सरकार ही इस बात का निश्चय करेगी कि देश को किन किन पदार्थों की कितनी कितनी आवश्यकता है और व्यक्तियों को वे किस परिमाण में

दिये जा सकेंगे । पैदावार और उसका बँटवारा इस प्रकार होना चाहिये कि राष्ट्र की शक्ति बढ़े । राष्ट्र की शक्ति से अर्थ है, राष्ट्र की सैनिक शक्ति, युद्ध द्वारा दूसरे राष्ट्रों को दबा सकने की शक्ति । इस शक्ति को बढ़ाने के लिये सभी श्रेणियों का हित कुर्बान कर दिया जाना चाहिये । जिस प्रकार समाजवादी और कम्युनिस्ट लोग व्यक्ति के हित और स्वतंत्रता से समाज को अधिक महत्वपूर्ण समझते हैं, उसी प्रकार नाज़ी और फ़ैसिस्ट भी राष्ट्र और समाज को व्यक्ति से ऊँचा स्थान देते हैं । परन्तु समाज के आधार के बारे में दोनों की धारणा अलग अलग है ।

नाज़ी लोग भी अपने आपको सोशलिस्ट-समाजवादी-कहते हैं । परन्तु उनका समाजवाद दूसरे ढंग का है । मार्क्सवादियों के समाजवाद में समाजवाद का आधार है, समाज के सभी मेहनत करने वाले लोग—चाहे वे किसी जाति, नस्ल या धर्म के हों । मार्क्सवाद समाजवाद में नस्ल और देश का भेद नहीं मानता । वह संसार को एक विश्वव्यापी समाजवादी राष्ट्र में संगठित करना चाहता है, जिम्में मुकाविले की गुंजाइश और युद्ध की ज़रूरत न रहेगी । परन्तु नाज़ीज़्म (नेशनल-सोशलिज़्म) में समाजवाद का आधार है—नस्ल । अपने देश या नस्ल के अन्दर समाजवाद हो और इस समाजवाद द्वारा अपने राष्ट्र को सबल बनाकर संसार के दूसरे राष्ट्रों पर अपना सिक्का जमाया जाय ।

नाज़ीवाद के समाजवाद में मार्क्सवादियों के समाजवाद से और भी भेद है । वह समाजवाद में समानता को कोई महत्व नहीं देता । नाज़ीवाद में कोई भी व्यक्ति रुनाका बसाकर पूँजीपति बन सकता है । शर्त सिर्फ़ यह है, कि उसका व्यवसाय राष्ट्र या सरकार के हित के विरुद्ध न होकर उसे मजबूत बनाये । नाज़ीवादी राष्ट्र में सभी काम राष्ट्र या सरकार के हित में होने चाहिये ।

परन्तु मार्क्सवाद में राष्ट्र या सरकार का अर्थ क्या है ! मार्क्सवाद इसे इस रूप में देखता है :—जब समाज में एक श्रेणी साधनों की मालिक है और दूसरी साधनों से हीन, तो समाज में व्यवस्था साधनों की मालिक पूँजीपति श्रेणी के हित और निश्चय के अनुसार ही होगी । राष्ट्र का हित किस बात में है, इस बात का फैसला पूँजीपति श्रेणी करेगी । यदि पूँजीपति श्रेणी यह फैसला करती है कि साधनहीन शोषित श्रेणियों के अपनी अवस्था में सुधार करने की माँग से राष्ट्र में गड़बड़ मचती है, तो शोषित श्रेणी को ऐसी माँग नहीं उठानी चाहिये । यदि पूँजीपति श्रेणी यह आवश्यक समझती है कि राष्ट्र की पैदावार की शक्ति शीघ्र श्रेणियों के लिये भोजन वस्त्र पैदा करने की अपेक्षा सैनिक तैयारी में खर्च की जानी चाहिये, तो वैसा ही होगा । यदि पूँजीपति श्रेणी यह फैसला करती है कि देश की जनता के मूखे मरते रहने पर भी राष्ट्र की शक्ति दूसरे देशों से युद्ध कर साम्राज्य विस्तार में लगानी चाहिये, तो राष्ट्र ऐसा ही करेगा । जर्मन नस्ल का लाभ किस बात में है, इस बात का फैसला सब तरह से जर्मनी के पूँजीपतियों के हाथ में है । इसी फैसले द्वारा जर्मनी और इटली की पैदावार का बहुत बड़ा भाग जर्मन और इटालियन जनता के जीवन निर्वाह की आवश्यकताओं पर खर्च न कर युद्ध की तैयारी और युद्ध लड़ने पर किया गया है ।

दूसरे देशों को जर्मन और इटालियन साम्राज्य के आधीन कर लेने पर लाभ इन देशों के पूँजीपतियों का होगा या मजदूरों का ? उस समय इनकी सरकार यह फैसला करेगी कि दूसरे देशों के बाजारों पर कब्जा करने के लिये यह जरूरी है कि जर्मन और इटालियन माल सस्ता तैयार हो । इसके लिये फिर जर्मनी और इटली के मजदूरों को कम मजदूरी पर काम करके राष्ट्रीय

हित के लिये स्वार्थ त्याग करने के लिये तैयार होना पड़ेगा । मार्क्सवाद की दृष्टि में नाज़िज़्म और फैसिज़्म केवल जर्मनी और इटली की पूँजीपति श्रेणियों के संसार पर कब्ज़ा करने का स्वप्न है । या कहिये गिरते हुए पूँजीवाद का अपने देशों में तानाशाही कायम कर आत्म रक्षा करने का प्रयत्न है ।

आज दिन हिटलर और मुसोलिनी अपने अपने राष्ट्रों के एक छत्र तानाशाह समझे जाते हैं । परन्तु समाज के मौजूदा विकास के ज़माने में किसी एक व्यक्ति की एक छत्र तानाशाही समाज में कायम हो सकना प्रायः असम्भव सी बात है । आज दिन समाज की नीति—जैसा कि हम पहले कह आये हैं—वलवान श्रेणियों के स्वार्थ के उद्देश्य से निश्चित होती है । हिटलर और मुसोलिनी का राज उनका व्यक्तिगत राज नहीं, बल्कि उस श्रेणी का राज है, जिसके कि वे प्रतिनिधि हैं । हिटलर और मुसोलिनी किस श्रेणी के प्रतिनिधि हैं ; इस बात को तर्क की अपेक्षा हम उनके जीवन की घटनाओं से ही अधिक अच्छी तरह देख सकते हैं ।

जर्मनी और इटली में नाज़ीवाद और फैसिस्टवाद का जन्म आर्थिक अव्यवस्था के कारण पैदा हो गये संकटों को दूर करने के लिये हुआ है । इस कार्य में नाज़ीवाद और फैसिस्टवाद को कितनी सफलता मिली और कैसे मिली, इस पर भी एक नज़र डालना ज़रूरी होगा । इसके लिये जर्मनी का उदाहरण अधिक उपयोगी होगा ।

१९१४—१९१८ के महायुद्ध के बाद जर्मनी में आर्थिक परिस्थितियाँ बहुत भयानक रूप धारण कर चुकी थीं । न केवल किसान मजदूरों की स्थिति संकट में थी, बल्कि मध्यम श्रेणी की अवस्था भी बहुत गिर चुकी थी । इस परिस्थिति की जड़ में कारण था मुनाफ़ा कमाने की प्रवृत्ति के कारण उद्योग धन्दों

का बहुत थोड़े से व्यक्तियों के हाथों में एकत्र होजाना और युद्ध में जर्मनी के हार जाने के कारण इस परिस्थिति का और भी विकट हो जाना । इन कारणों से जर्मनी के मजदूर-किसानों में क्रान्ति की प्रबल लहर दौड़ने लगी और साधनहीन श्रेणियों पैदावार के साधनों पर अपना अधिकार करने के लिये सचेत हो उठीं, समाजवादी भावना का प्रवाह जोरों पर चल निकला । दूसरी ओर मध्यम श्रेणी भी व्याकुल थी । उन्हें एक ओर तो पूँजीपतियों का नियंत्रण निचोड़ रहा था दूसरी ओर साधनहीन निम्न श्रेणियों की आधीनता में जाने का भय था । समाजवाद इन्हें भी पसन्द था परन्तु निम्न श्रेणियों की आधीनता नहीं । यह चाहते थे ऐसा समाजवाद जिसमें इसी श्रेणी की प्रधानता हो । इस आर्थिक संकट के समय इस श्रेणी ने अपनी हैसियत की रक्षा के लिये इस प्रकार की व्यवस्था के लिये प्रयत्न शुरू किया, जिसमें न तो किसान मजदूरों का ही शासन हो और न पूँजीपतियों के हाथ में ही राष्ट्र का सब धन चला जाय । पूँजों और पैदावार के साधनों पर यह श्रेणी राष्ट्र द्वारा इस प्रकार का नियंत्रण चाहती थी कि राष्ट्र की पैदावार का बँटवारा मध्यम श्रेणी तक भी होता रहे । मध्यम श्रेणी का यह आन्दोलन साधनहीन श्रेणियों के आन्दोलन का, जो कि समाजवाद कायम करने पर उताव्ल था, जोर से विरोध कर रहा था । इनका उद्देश्य इस प्रकार का एक राष्ट्रीय नियंत्रण था जो इन्हें विलकुल सम्पत्तिहीन बनाकर साधनहीन श्रेणी में न मिलादे । इसका उपाय था कि राष्ट्र के नियंत्रण की शक्ति न तो पूँजीपतियों के हाथ में रहे और न साधनहीन श्रेणियों के हाथ में चली जाय, बल्कि इसी श्रेणी के हाथ में रहे । यह श्रेणी पूँजीवाद को कायम रखना चाहती थी परन्तु ऐसे नियंत्रण में जो कि मुनाफे का भाग इस श्रेणी को भी देता रहे । हिटलर इसी श्रेणी

का प्रतिनिधि था और उसने अपने इस आन्दोलन को राष्ट्रीय-समाजवाद का नाम दिया ।

मध्यम श्रेणी के नेतृत्व में समाजवाद कायम करने का जो आन्दोलन हिटलर ने चलाया, आरम्भ में उसमें उसे विशेष सफलता न मिली । उसके मुख्य सहायक 'काली कमीज वाले' स्वयमसेवक सैनिकों की संख्या १६३३ तक एक सौ से अधिक न थी । उस समय जर्मनी के पूँजीपतियों ने पूँजीवाद के विरुद्ध उठती हुई समाजवादी क्रान्ति की लहर का मुकाबिला करने के लिये हिटलर द्वारा जर्मनी के 'पुनः संगठन' या नेशनल-सोशलिज्म को उपयोगी समझकर उसे आर्थिक सहायता देनी शुरू की । हिटलर के उस संगठन को जिसमें सौ स्वयम सेवक भी कठिनता से जमा हो सके थे और जिन्हें अपनी सभा करने के लिये हाल किराये पर लेने के लिये पैसे नहीं मिलते थे, इन पूँजी-पतियों थाइसन, शात्, क्रुप और दो एक दूसरे की सहायता मिलने और उनकी सहायता से हिटलर के राजनैतिक क्षेत्र में सफलता पाने पर इन स्वयमसेवकों की संख्या शीघ्र ही बस हजार तक हो गई । और हिटलर के राज्य शक्ति प्राप्त कर लेने पर १६३५ में इन स्वयंसेवकों की संख्या तीन लाख तक पहुँच गई ।

आज इस स्वयंसेवक दल का काम न केवल कम्यूनिस्टों की क्रान्तिकारी शक्ति को दबाना है बल्कि नाज़ी दल की स्वयम सेवक 'खाकी कमीज की सेना' पर नियंत्रण रखना भी है । खाकी कमीज की सेना में मुख्यतः मध्यम श्रेणी के लोग और युद्ध के समय की सेना के अफसर इत्यादि हैं । राजनैतिक शक्ति की बागडोर दृष्टियाने में मध्यम श्रेणी के इन्हीं लोगों से हिटलर को मुख्य सहायता मिली थी परन्तु अपनी श्रेणी का कोई स्वार्थ नाज़ीवाद में पूर्ण होता न देख इन लोगों में आविश्वास फैलने लगा इसलिये इन्हें नियंत्रण में

रखने का काम 'काली कर्मात्र' के स्वयमसेवक दल को दिया गया जो हिटलर के निजी सैनिक और गुप्तचर के रूप में काम करते हैं। ऐसे समय सुसोलिनी और हिटलर जो दोनों ही पहले अपने आप को जनता के सामने समाजवादी के रूप में पेश कर जनता की सहानुभूति प्राप्त कर चुके थे, अपने अपने देशों के पूँजीवादियों के बल पर जनता को नया मार्ग दिखाने के लिये आगे आये।

हिटलर और सुसोलिनी ने अपने देशों की मध्यम श्रेणियों और साधनहीन श्रेणियों को समझाया कि उनके देश के संकट का कारण है; योरुप में दूसरी साम्राज्यवादी शक्तियों का प्रभुत्व। जिन्होंने उनके देशों से जीवन के साधन छीन लिये हैं। बजाय अपने देश के पूँजीवादियों के हाथ से पैदावार के साधनों की मिलिक्रयत छीनने के प्रजा को चाहिये कि वे संगठित राष्ट्र के रूप में खड़े हों और साम्राज्यवादी देशों की तरह संसार के दूसरे देशों पर अपना अधिकार कायम कर अपनी अवस्था को सुधारें। इंग्लैण्ड, फ्रांस और अमेरिका का उदाहरण उनके सामने था। पिछले महायुद्ध में जर्मनी पराजित हुआ था और विजयी मित्र-राष्ट्रों की शक्ति ने जर्मनी पर अनेक अपमानजनक प्रतिबंध लगा दिये थे; तिनके कारण जर्मनी की आर्थिक स्थिति गिरती जा रही थी। हिटलर ने जर्मन जाति के राष्ट्रीय अभिमान को जागरित कर फिर से साम्राज्य विस्तार का स्वप्न उसके सामने रक्खा और उसके लिये कुर्बानी और युद्ध के लिये जर्मनी को तैयार करना शुरू किया। पिछले महायुद्ध के अंत में जर्मनी में आर्थिक संकट के कारण जो विप्लव हो गया था उसे ही जर्मनी की हार का कारण बताया गया और उस विप्लव का कारण किसान मजदूरों की चेतना को बढा कर राष्ट्र के हित के लिये उसे द्वांन की चेष्टा की गई। अन्तर्राष्ट्रीय और समानता की भावना पर कायम कम्युनिज्म को

राष्ट्र का शत्रु बताकर पूँजीवाद द्वारा ही दुबारा औद्योगिक उन्नति को मुक्ति का मार्ग समझा गया। पूँजीपतियों के प्रभाव में हिटलर ने जर्मनी के लिये और मुसोलिनी ने इटली के लिये मुक्ति का जो मार्ग निश्चित किया, उसमें राष्ट्र की संगठित शक्ति उन देशों के पूँजीवादियों के व्यवसायों की सहायता के लिये मुह्य्या की गई। इन पूँजीपतियों के व्यवसायों की उन्नति के लिये मजदूरों को कम मजदूरी पर काम करने के लिये मजबूर किया गया, ताकि उन्हें खूब मुनाफा हो और उस मुनाफे से और अधिक व्यवसाय चलाये जा सकें जिन में देश के बेकार मजदूर काम पा सकें। देश में बेकारी और बेहद गरीबी के कारण माल की खपत न होने से असंतोष न बढ़े इसलिये इन नये व्यवसायों में अधिकतर युद्ध की सामग्री तैयार करने वाले व्यवसाय चलाये गये। जनता के लिये उपयोगी आवश्यक पदार्थों को तैयार करने में जनता की शक्ति खर्च न कर, उसे युद्ध के लिये आवश्यक पदार्थों को तैयार करने में खर्च किया गया। कम पूँजी से अधिक समान तैयार कराने के लिये मजदूरों को मजदूरी भी कम दी गई। इसके साथ ही जनता के सामने साम्राज्य विस्तार द्वारा संसार पर शासन कर स्मृद्धि लाने के स्वप्न भी रखे गये। उन्हें निरंतर समझाया गया कि उनके जीवन की आवश्यकताओं की अपेक्षा युद्ध की सामग्री अधिक आवश्यक है, क्योंकि उसीसे राष्ट्र के भविष्य का निर्माण हो सकता है।

नार्ज़ा शासन की आर्थिक और राजनैतिक नीति का नियंत्रण पूर्णरूप से जर्मनी के चन्द पूँजीपतियों के हाथ में है जिन की दया पर हिटलर की स्थिति निर्भर करती है। इन्हीं के आर्थिक शासन में जर्मनी का सम्पूर्ण व्यापार और उद्योग धन्ये चल रहे हैं। मध्यम श्रेणी की अवस्था में न केवल उन्नति ही नहीं हुई बल्कि उनकी

अवस्था पहले से भी गिर गई है। इसलिये पिछले वर्षों में नाज़ी शासन के विरुद्ध विद्रोह के अनेक यत्न हुए जिन्हें शासन की शक्ति हाथ में होने के कारण नाज़ियों ने निरंकुशता पूर्वक दबा दिया। इसके अलावा संसार पर जर्मन साम्राज्य के विस्तार के स्वप्न को पूरा करने के लिये नाज़ियों ने छोटे-छोटे राष्ट्रों को हड़पना आरंभ किया और जर्मन प्रजा को जर्मनी की बढ़ती हुई शक्ति का विश्वास दिलाने के लिये मित्र राष्ट्रों द्वारा महायुद्ध में पराजय के स्वरूप संधि की शर्तों के रूप में लगाई गई पाबंदियों को तोड़ना शुरू किया। फ्रांस और इंग्लैंड चाहते तो जर्मनी को उसी समय कुचल दे सकते थे परन्तु इन साम्राज्यवादी शक्तियों ने इस विश्वास पर कि जर्मनी की बढ़ी हुई शक्ति संसार से कम्यूनिज़्म का नाश कर देगी, जर्मनी की अन्तर्राष्ट्रीय डकैतियों को न केवल चुपचाप सदन कर लिया बल्कि कर्जे के रूप में उन्हें करोड़ों की सहायता दी, ताकि जर्मनी में कम्यूनिस्ट आंदोलन पनप न सके। जर्मनी में नाज़ीवाद के रूप में पूँजीवाद को फिर से स्थापित करने में जो कामयाबी हुई उसमें मित्र राष्ट्रों की सहायता का विशेष स्थान है। जर्मन पूँजीवाद मित्र राष्ट्रों के पूँजीवाद से सहायता पाकर भी अपने स्वार्थ को प्रधानता देने के कारण उनसे लड़े बिना न रह सका। उस समय जर्मनी की भीतरी अवस्था इतनी असन्तोषपूर्ण हो चुकी थी कि यदि जर्मन प्रजा को साम्राज्य प्राप्ति या महान जर्मनी की आशा के नशे में अंधा न कर दिया जाता, तो नाज़ी शासन के विरुद्ध क्रांति अवश्य हो जाती। इसके अलावा वर्षों तक लगातार तैयार की गई युद्ध सामग्री को काम में कहाँ लाया जाता? परिणाम स्वरूप जर्मनी ने युद्ध या अन्तर्राष्ट्रीय डकैती द्वारा अपना निर्वाह करना शुरू किया, जिससे बेकारों को सिपाही सजाकर उनकी संख्या में कमी करने की सुविधा भी होगई और शेष लोगों को युद्ध की सामग्री

तैयार करने के उद्योग में खपा दिया गया। इतने पर भी जर्मनी जब प्रजा की गिरी हुई आर्थिक अवस्था के कारण नित्य होने वाली पैदावार को खपा न सका तो नाज़ीवाद ने मैशीनों की रफ्तार कम करके पैदावार को कम करने की चेष्टा शुरू की है।

इटली की अवस्था इससे भिन्न नहीं। दोनों ही देशों की मौजूदा शासन पद्धति और आर्थिक व्यवस्था को देखने के बाद हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि अपनी स्वाभाविक गति पर चलते हुए इन देशों के पूँजीवाद ने और अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवादी मुकाबिले ने जब इटली और जर्मनी में अपना रास्ता स्वयम असंभव कर दिया और भविष्य में वैयक्तिक स्वतंत्रता के आधार पर चलना जब पूँजीवाद के लिये असम्भव हो गया तब पूँजीवाद ने अपनी रक्षा के लिये अपना निरकुंश शासन (Dictatorship) के रूप में नाज़ीवाद और फैसिज्म जारी किया है। नाज़ीवाद और फैसिस्टवाद को मार्क्सवाद मध्यम श्रेणी के सहयोग से स्थापित पूँजीपति श्रेणी की तानाशाही के अतिरिक्त और कुछ नहीं समझता, जो समाज में अशांति का कारण साधनहीन श्रेणियों की दुरावस्था को दूर न कर केवल दमन से ही उसे पूँजीपतियों के हित की रक्षा के लिये दबा रखना चाहती है। परन्तु नाज़ीवाद और फैसिस्टवाद के रूप में पूँजीवाद अपने भीतर पैदा होने वाले अन्तर विरोधों से इतना पूर्ण हो गया है कि अपने आधारभूत सिद्धान्त आर्थिक क्षेत्र में वैयक्तिक स्वतंत्रता को छोड़ समाजवाद के सिद्धान्त—सामाजिक नियंत्रण से अपने हितों की रक्षा कर रहा है। नाज़ीवाद और फैसिस्टवाद साम्राज्य विस्तार के रूप में जितना अपने क्षेत्र को बढ़ायेगा, उनके शासन के प्रति विरोध करने वाली शक्तियाँ भी उतनी अधिक उस क्षेत्र में पैदा होंगी और अन्त में कुछ आदमियों के स्वार्थ की रक्षा करने वाली इस पूँजीवादी तानाशाही को

पैदावार के लिये परिश्रम करने वाली श्रेणियों के सामने, जिनकी संख्या का बल पूँजीपती श्रेणी से हजारों गुणा अधिक है, मुकना ही पड़ेगा ।

प्रजातंत्र-समाजवादी और कम्यूनिस्ट (Social Democrats)

‘प्रजातंत्र-समाजवादी’ शब्द से एक प्रकार का भ्रम जनता में फैल सकता है । इसलिये नहीं कि अपने आपको प्रजातंत्र-समाजवादी कहने वाले लोग प्रजातंत्र का समर्थन नहीं करते, बल्कि इस लिये कि वह कौन समाजवादी है जो प्रजातंत्र का समर्थन नहीं करता ? समाजवाद के अनेक रूपों और संगठनों का वर्णन करते हुए प्रसिद्ध कम्यूनिस्ट लेखक डी० एन० प्रिट ने लिखा है—‘समाजवाद का एक ही रूप है और वह है कम्यूनिज्म । समाजवाद को स्पष्ट तौर पर कम्यूनिज्म न कह कर, तरह तरह के नाम धारण करनेवाले संगठन वास्तव में मार्क्सवादी समाजवाद में विश्वास नहीं करते ।’

यदि प्रिट का यह कहना ठीक है तो प्रजातंत्र समाजवादी भी इस परिभाषा से बरी नहीं हो सकते परन्तु इस बात से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि प्रजातंत्र समाजवादी न केवल मार्क्स के आर्थिक सिद्धान्तों में पूर्ण रूप से विश्वास रखते हैं बल्कि मार्क्सवादी समाजवादियों की ही भाँति समाजवाद के पश्चात् श्रेणी रहित समाज—अर्थात् कम्यूनिज्म में भी विश्वास रखते हैं । वे शासन शक्ति को साधनहीन किसान-मजदूरों की श्रेणी के हितों के अनुकूल चलाना चाहते हैं परन्तु फिर भी उनका कम्यूनिस्टों से मतभेद है । प्रजातंत्र समाजवादियों और कम्यूनिस्टों का मतभेद उद्देश्य के बारे में या आदर्श समाज के संगठन के बारे में नहीं—भेद है, केवल कार्यक्रम के बारे में । या कहा जा सकता है कि उनका भेद है, उस तरीके के बारे में जिसके द्वारा पूँजीवाद के

भीतर पैदा हो जाने वाली कठिनाइयों से पीड़ित समाज समाजवाद की राह से कम्युनिज्म की अवस्था को पहुँच सकेगा ।

प्रजातंत्र-समाजवादी मार्क्स के ऐतिहासिक विकास के क्रम और परिस्थितियों के प्रभाव को बहुत महत्व देते हैं । उनका विश्वास है कि जिस प्रकार मनुष्य-समाज पूँजीवाद से पूर्व की अवस्थाओं से पूँजीवाद में पहुँचा है और समाज में पूँजीवाद ने अपने मार्ग में स्वयं अन्तर विरोध और कठिनाइयाँ पैदा कर दी हैं, उसी प्रकार पूँजीवाद का अन्त भी हो जायगा । समाज की परिस्थितियों के क्रम विकास से पूँजीवादी व्यवस्था अपने आप ही समाजवादी व्यवस्था में बदल जायगी । उसके लिये किसी राजनैतिक क्रान्ति या विप्लव की आवश्यकता नहीं । उनकी धारणा है कि पूँजीवाद को समाजवाद में बदलने के लिये जरूरत है, केवल पूँजीवादी समाज में अधिक आर्थिक कठिनाइयों के अनुभव होने की और इसके साथ साथ साधनहीनों के श्रेणी संगठनों के विकास की ।

प्रजातंत्र-समाजवादी पूँजीवादी समाज को समाजवादी विधान में बदलने का उपाय समझते हैं ; प्रजा की चेतना और राय (वोट) के बल पर वैधानिक सुधारों को लाना । इस प्रकार एक दिन इसी वैधानिक मार्ग से वे शासन शक्ति को भी साधनहीन किसान-मजदूरों के हाथ में दे देंगे और समाज पूर्णतः समाजवाद के रूप में परिणित हो जायगा ।

कम्युनिस्ट लोगों का विश्वास इससे भिन्न है । मार्क्स द्वारा सामाजिक परिस्थितियों का प्रभाव मनुष्य-समाज की प्रगति पर पड़ने का अर्थ वे केवल भौतिक परिस्थितियाँ, मनुष्य शरीर के बाहर चारों ओर की परिस्थितियाँ ही नहीं समझते बल्कि मनुष्य के विचारों और कार्यों को भी वे परिस्थितियों का भाग समझते

हैं। खास खास परिस्थितियों में मनुष्य क्या करने का निश्चय करता है, इस बात का प्रभाव भी मनुष्य के समाज और उसके विकास पर पड़ता है। परिस्थितियाँ विचारों को पैदा करती हैं यह ठीक है, परन्तु मनुष्य की विचार शक्ति और उसके कार्य भी परिस्थितियों पर प्रभाव डालते हैं। इसलिये कम्युनिस्ट लोगों की यह धारणा है कि खास तरह की परिस्थितियाँ अर्थात् पूँजीवादी प्रणाली द्वारा समाज के मार्ग में रुकावटें आ जाने पर भी यदि समाज की वह श्रेणी जिनके कंधों पर नये युग के निर्माण का बोझ है, आगे नहीं बढ़ती तो समाज की दूसरी श्रेणियाँ जो अधिक सजग और संगठित हैं, अपने कार्यों से परिस्थितियों को अपने स्वार्थ के अनुकूल व्यवस्था में बदल देंगी। इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार ज़बरदस्ती लादी गई व्यवस्था अधिक देर तक सफल नहीं हो सकती परन्तु समाज को विकास के स्वाभाविक मार्ग पर न ले जाकर अर्थात् पैदावार के काम को करनेवाली और सबसे अधिक शक्तिशाली श्रेणी—साधनहीन श्रेणी—के शासन में न ले जाकर दूसरे मार्गों पर भटकने देना मनुष्य-समाज के विकास के मार्ग में जान-बूझकर रुकावट आने देना, और मनुष्य-समाज की शक्ति का नाश करना है।

कम्युनिस्टों का विश्वास है कि पूँजीवादी श्रेणी अपने स्वार्थ को छोड़कर स्वयं ही अलग नहीं हो जायगी। उसके लिये साधनहीन श्रेणियों के सचेत और संगठित प्रयत्न की ज़रूरत है। यह प्रयत्न तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक कि साधनहीन श्रेणी, किसान-मजदूर अपने हाथ में शासन की शक्ति नहीं ले लेते। समाजवादी क्रान्ति को पूर्ण करने के लिये पहले राजनैतिक शक्ति का साधनहीन श्रेणी के हाथ में आना ज़रूरी है। प्रजातंत्रवादी इससे ठीक उल्टे क्रम में विश्वास रखते हैं। उनका ख्याल

है कि वैधानिक परिवर्तन से समाजवाद पहले कायम हो जायगा और तब राजशक्ति स्वयं ही मजदूर-किसान श्रेणियों के हाथ में आजायगी ।

कम्यूनिस्ट लोगों का कहना है कि मार्क्स ने इतिहास के क्रम को श्रेणियों में आर्थिक संघर्ष का क्रम बताया है और मार्क्स का यह विचार इतिहास द्वारा प्रमाणित भी होता है । मनुष्य-समाज का इतिहास यह बताता है कि कभी किसी श्रेणी या क्रायम व्यवस्था ने अपनी शक्ति के लिये संघर्ष किये बिना दूसरी श्रेणी की सत्ता या व्यवस्था के लिये स्थान खाली नहीं किया और मौजूदा अवस्था में मनुष्य स्वभाव और मनुष्य की प्रवृत्ति जैसी है उसके अनुसार शासक श्रेणी का अपनी सत्ता कायम रखने के लिये संघर्ष करना जरूरी है । साधनहीन श्रेणी जो नया विधान क्रायम करना चाहती है, उसे भी अपनी सत्ता क्रायम करने के लिये संघर्ष करना ही होगा । इसके अतिरिक्त कम्यूनिस्टों का कहना है कि यदि पूँजीवादी व्यवस्था की जड़ पूरे तौर पर न काट दी जायगी और समाजवादी व्यवस्था क्रायम करने के वाद समाजवादी समाज की राज्यशक्ति से पूँजीवाद के पुनः उठ खड़े होने पर प्रतिबंध नहीं लगाये जायँगे, तो अपने वैयक्तिक मुनाफे और स्वार्थ के लिये काम करनेवाली पूँजीवादी श्रेणी समाजवादी व्यवस्था को असफल करने के प्रयत्न कर समाज में अशान्ति पैदा करती रहेगी, जैसा कि रूस की १९१७ की समाजवादी राज्यक्रान्ति के बाद रूस में प्राप्त हुए अनुभवों से प्रमाणित हो चुका है ।

इसके साथ ही कम्यूनिस्ट लोग इटली और जर्मनी में नाजीज्म और फैसिज्म क्रायम होने का कारण भी उन देशों में समाजवादी शक्ति अर्थात् साधनहीन मजदूर-किसानों की श्रेणी का उस समय सैनिक क्रान्ति के लिये तैयार न रहना ही बताते हैं । जबकि पूँजी-

वादी सत्ता अपने अन्तर विरोधों के कारण अस्तव्यस्त हो रही थी और समाजवादी शक्ति के लिये राज सत्ता हाथ में लेने का समय था। यदि साधनहीन लोगों की श्रेणी, शक्ति हाथ में लेकर राज-नैतिक क्रान्ति के लिये तैयार न होगी तो अनेक बार परिस्थितियाँ पैदा होने पर भी वह अपनी सत्ता कायम न कर सकेगी और पूँजीपति श्रेणियाँ वैयक्तिक स्वतंत्रता के वाद तानाशाही और तानाशाही के वाद सैनिक राज का रूप धारण कर समाजवादी अवस्था को टालती चली जायँगी।

यदि हम गहरी दृष्टि से देखें तो प्रजातंत्र-समाजवादियों की इस धारणा में कि समाज स्वयम ही समाजवाद की ओर जायगा, पूँजीवादियों की यह विचारधारा काम करती दिखाई देती है कि समाज में आर्थिक क्रम को अपनी स्वाभाविक गति से (Laissez faire) जाने देना चाहिये; जो कि मार्क्सवाद के सिद्धान्तों के अनुकूल नहीं और न इतिहास ही उसकी सच्चाई और उपयोगिता का समर्थन करता है।

गांधीवाद

पूँजीवादी व्यवस्था के कारण पैदा हो जानेवाली असमानता और अव्यवस्था का उपाय करने के लिये चलाये गये आन्दोलनों में गांधीवाद का भी एक स्थान है। गांधीजी की विचारधारा का उद्देश्य सामाजिक अशान्ति को दूर कर मनुष्य को आध्यात्मिक विकास की ओर ले जाना है। गांधीवाद की विचारधारा शेष आन्दोलनों की तरह नितान्त रूप से आर्थिक या राजनैतिक नहीं, वह मुख्यतः आध्यात्मिक है। गांधीवाद की नींव आध्यात्मिक होने पर भी वह सामाजिक शान्ति के लिये आर्थिक और राज-नैतिक समस्याओं के हल की बात भी सोचता है। भारतवर्ष के

राजनैतिक आन्दोलन के साथ गांधीवाद का सम्बन्ध होने से राजनैतिक क्षेत्र में उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती ।

जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, गांधीवाद की नींव आध्यात्मिक है । वह संसार की आर्थिक और राजनैतिक समस्याओं का कारण भौतिक परिस्थितियों और आर्थिक कारणों में ही नहीं देखता, बल्कि व्यक्ति की मानसिक वृत्ति में ही अधिक देखता है । व्यक्ति की मानसिक वृत्ति को गांधीवाद जीवन निर्वाह की परिस्थितियों का परिणाम ही नहीं समझता बल्कि मनुष्य की मानसिक वृत्ति या आत्मा को वह अलौकिक शक्ति या भगवान का अंश समझता है या उससे सम्बद्ध समझता है । गांधीवाद की न्याय और अन्याय, उचित और अनुचित की धारणा मार्क्सवाद की तरह व्यक्ति और व्यक्तियों के समूह, समाज के सांसारिक हित और सफलता पर ही निर्भर नहीं करती बल्कि इस संसार और शरीर से परे आत्मा के कल्याण पर भी निर्भर करती है । इसी प्रकार मनुष्य जीवन के क्रम को निश्चय करने में भी गांधीवाद केवल भौतिक परिस्थितियों के प्रभाव तथा मनुष्य के विचार और निर्णय को ही सब कुछ स्वीकार न कर अलौकिक शक्ति और भगवान की इच्छा को भी स्थान देता है । इन प्रश्नों पर मार्क्सवाद के रुख का वर्णन हम इस पुस्तक के पिछले अध्याय में 'भौतिक आधार' और 'आध्यात्मिकता और मार्क्सवाद' में कर आये हैं ।

समाज से आर्थिक असमानता और अव्यवस्था दूर करने के प्रश्न पर ही गांधीवाद के रुख का वर्णन हमें यहाँ करना है । गांधीवाद सामाजिक अशान्ति और आर्थिक संकट का कारण धन और द्रव्य का कुछ एक व्यक्तियों के हाथों में इकट्ठा हो जाना और समाज के बड़े अंग का साधनहीन हो जाना स्वीकार करता है । वह यह भी स्वीकार करता है कि इस प्रकार की आर्थिक

विषमता का कारण व्यक्तियों का मुनाफ़ा कमाने का यत्न है और यदि मुनाफ़ा कमाने की प्रवृत्ति न हो तो धन और पैदावार के साधनों का बँटवारा बहुत हद तक समान रूप में हो सकता है। परन्तु मार्क्सवाद की तरह गांधीवाद यह स्वीकार नहीं करता कि मुनाफ़ा कमाने की प्रणाली या पूँजीवाद समाज के लिये एक ऐतिहासिक मंजिल है और समाज के लिये वह अपने आवश्यक कार्य को पूरा कर चुका है। अब उसके स्थान पर दूसरी व्यवस्था के आने की जरूरत है—जो पूँजीपति और साधनहीन श्रेणियों के संघर्ष में साधनहीन श्रेणी की सफलता से अयेगी। गांधीवाद का विचार है कि पूँजीपतियों की मुनाफ़ा कमाने की प्रवृत्ति उनके व्यक्तिगत लोभ के कारण है और इसका उपाय है, पूँजीपति व्यक्तियों का मानसिक और आत्मिक सुधार। मार्क्सवाद पूँजीपतियों या किसी भी व्यक्ति के लोभ को आत्मा और मन का गुण व अवगुण नहीं, बल्कि परिस्थितियों के कारण आत्मरक्षा का प्रयत्न समझता है, जिसे दूर करने के लिये समाज की परिस्थितियों को बदलना जरूरी है। यों तो गांधीवाद भी समानता का समर्थक है परन्तु सामाजिक परिस्थितियों को बदलने के उपाय के सम्बन्ध में उसका मार्क्सवाद से मतभेद है और समाज के भावी रूप और आदर्श के सम्बन्ध में भी उसका दृष्टिकोण मार्क्सवाद से भिन्न है।

गांधीवाद के दृष्टिकोण से पैदावार के साधनों का मशीन का रूप धारण कर बढ़ना और पैदावार का कुछ व्यक्तियों के हाथ में एक स्थान पर केन्द्रित हो जाना ही विषमता का कारण है। इसी कारण पैदावार का फल भी बहुत थोड़े से व्यक्तियों की मिलिक्रयत

॥ गांधीजी अपने आपको अनेक बार सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट कह चुके हैं।

हो जाती है। इस विचार से मार्क्सवाद को आपत्ति नहीं। परन्तु इसका उपाय क्या हो?—इसी बात पर मतभेद है। गांधीवाद कहता है—पैदावार का केन्द्रीकरण (Centralisation) नहीं होना चाहिये, पैदावार घरेलू उद्योग धन्दों के रूप में ही होनी चाहिये ताकि पैदावार के साधन या औजार पैदावार करने वाले व्यक्तियों जुलाहे, ठठेरे, चमार, कुम्हार की निजी सम्पत्ति हों। वे जितना चाहें उत्पन्न करें और अपने परिश्रम के फल को बाजार में बेचकर या दूसरे पदार्थों से बदलकर पूरा पूरा पा सकें। इस प्रकार शोषण की गुंजाइश न रहेगी। पैदावार में मशीनों के उपयोग से उसका एक स्थान पर केन्द्रित होना आवश्यक है परन्तु उद्योग धन्दों और व्यवसायों को केन्द्रित न करने का अर्थ होगा कि मशीनों का व्यवहार छोड़ दिया जाय, क्योंकि मिलों और मशीनों को जुलाहों और दूसरे कारीगरों के घर और देहात में बाँटना असम्भव है। मिलों में पैदावार करने से केन्द्रिकरण अवश्य ही होगा। गांधी जी इस विषय में निर्भीकता पूर्वक कहते हैं कि मशीनों का अधिक प्रयोग मनुष्यता का शत्रु है। गांधी जी के घरेलू धन्दों द्वारा समाज से मुक्ताविले को दूर करने और मुनाफे द्वारा कुछ आदमियों के अमीर बनने को रोकने का अर्थ होता है—विज्ञान द्वारा मनुष्य ने जितनी उन्नति की है, उसका बहिष्कार कर देना। कुछ उद्योग धन्दे ऐसे अवश्य हैं, जिन्हें घरेलू धन्दों के रूप में एक हद तक (पूर्ण उन्नत अवस्था तक नहीं) चलाया जा सकता है। उदाहरणतः जुलाहे, लुहार, चमार का काम परन्तु विज्ञान द्वारा प्राप्त आधुनिक सभ्यता की मुख्य वस्तुएँ ऐसी हैं, जिन्हें घरेलू धन्दों के तौर पर नहीं चलाया जा सकता। उदाहरणतः रेलें, जहाज और यातायात के दूसरे साधन, बिजली, गैस आदि शक्ति उत्पन्न करने के साधन, या लोहे, तेल, कोयले आदि की खानें जिन्हें उचित रूप से चलाने

के लिये हज़ारों ही आदमियों का एक साथ काम करना जरूरी है। गांधीवाद का विचार है कि यदि इन सब वस्तुओं को कुर्बान करके भी मनुष्य की आत्मा की रक्षा की जा सके तो कोई हर्ज नहीं। जिस आत्मा की रक्षा के लिये गांधीवाद इतना महत्व देता है मार्क्सवाद उसके अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता जैसा कि हम मार्क्सवाद और आध्यात्म के प्रश्न में स्पष्ट कर आये हैं। मार्क्सवाद जिस विज्ञान को सत्य की कसौटी मानता है, उस पर आत्मा पूरा नहीं उतरता।

मार्क्सवाद पैदावार के केन्द्रीकरण के विरुद्ध नहीं। पैदावार के केन्द्रीकरण को वह साधनों के विकास के क्रम में आवश्यक समझता है। पैदावार के साधनों की शक्ति बढ़ने से उनका एक स्थान पर इकट्ठा होना आवश्यक हो जाता है और यदि केन्द्रीकरण से पैदावार बढ़ती है, तो उससे मनुष्य-समाज का कल्याण ही होना चाहिये, हानि नहीं। यदि केन्द्रीकरण से पैदावार कुछ व्यक्तियों के हाथ में इकट्ठी हो जाती है तो इसकी जिम्मेदारी केन्द्रीकरण पर नहीं। केन्द्रीकरण तो पैदावार का एक तरीका है, जिस तरीके से पैदावार कुछ व्यक्तियों के मुनाफे के लिये भी की जा सकती है और सम्पूर्ण समाज के लाभ के लिये भी। केन्द्रीकरण द्वारा पैदावार के कुछ एक आदमियों के हाथों में इकट्ठे हो जाने का कारण मार्क्सवाद बताता है, पैदावार के केन्द्रित साधनों पर कुछ एक व्यक्तियों की मिल्लियत होना।

सम्पत्ति और पैदावार के मुनाफे के कुछ एक आदमियों के हाथों में इकट्ठे हो जाने का कारण है समाज की वर्तमान व्यवस्था। मार्क्सवाद कहता है, उद्योग धनों और कला-कौशल की उन्नति होने से पूर्व हमारे समाज में पैदावार के साधन जिस प्रकार के थे आज उस प्रकार के नहीं हैं परन्तु पैदावार के सम्बन्ध और बँटवारे के

सम्बन्ध आज भी उसी प्रकार के हैं। इस बात को यों समझा जा सकता है कि विकास से पूर्व के युग में एक व्यक्ति अपने औजारों का मालिक था और वह अकेला उनसे परिश्रम कर पैदावार के साधनों से पैदा किये फल का मालिक होता था, आज दिन पैदावार के साधनों के मालिक तो कुछ एक व्यक्ति (पूँजीपति) होते हैं परन्तु पैदावार के साधनों को काम में लाने के लिये हजारों व्यक्ति काम करते हैं और इन हजारों व्यक्तियों के परिश्रम के फल के मालिक फिर कुछ एक व्यक्ति हो जाते हैं। मार्क्सवादी कहते हैं कि पैदावार के साधनों पर अब हजारों व्यक्तियों के एक साथ काम करने से पैदावार का तरीका तो बदल गया है परन्तु पैदावार के साधनों पर और पैदावार के फल पर मिलित्वत अब भी एक ही व्यक्ति की है, इसीलिये संकट पैदा होता है। पैदावार करने के तरीके जब बदल गये हैं, तो पैदावार पर मिलित्वत के और पैदावार के बँटवारे के सम्बन्ध भी बदल जाने चाहिये।

मार्क्सवाद की दृष्टि में पैदावार के साधनों के मालिक पूँजीपति नहीं बल्कि पैदावार के लिये मेहनत करने वाले किसान-मजदूर ही हैं। क्योंकि पैदावार के बड़े बड़े साधन किसी एक व्यक्ति के परिश्रम से पैदा नहीं हो सकते। पूँजीपति जिन मजदूरों को रख

॥ पूँजीवादी लोग कहते हैं कि पैदावार के साधनों का मालिक पूँजीपति पैदावार के साधनों से परिश्रम करने वाले नौकरों और मजदूरों को उनके परिश्रम का फल दे देता है। जो उसके पास मुनाफ़ा बचता है वह उसका अपना भाग है। मार्क्सवादी कहते हैं, पूँजीपति मजदूर के श्रम का पूरा भाग नहीं देता। अतिरिक्त मूल्य (surplus value) के सिद्धान्त के अनुसार वह मजदूर के परिश्रम के फल को अपने पास रख लेता है। इस विषय का चर्चा हम अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त के प्रकरण में करेंगे।

कर जिस काम को करता है उन काम का मूल्य मजदूरों के परिश्रम का फल है। यदि मजदूरों के काम का पूरा फल दे दिया जाय और मालिक या प्रबन्ध करने वाला व्यक्ति भी अपने परिश्रम का फल ले ले (चाहे उसकी मेहनत का फल एक मजदूर की मेहनत के फल से चार गुणा ही क्यों न समझ लिया जाय) तो मालिक के पास करोड़ों की सम्पत्ति जमा नहीं हो सकती। मजदूरों के परिश्रम से पैदा हुआ जो धन मजदूरों को न देकर मालिक स्वयं रख लेता है, वह वास्तव में मजदूरों का ही धन है और उस धन से तैयार मिलें भी मजदूरों की ही हैं। मालिक केवल प्रबंधक समझा जा सकता है और प्रबंधक वह व्यक्ति होना चाहिये जिसे वास्तविक मालिक यानी मजदूर लोग नियत करना चाहें और जो मजदूरों के लाभ के लिये ही पैदावार के साधनों को चलाये। मार्क्सवादी समाज में शान्ति और स्मृद्धि की रक्षा के लिये पैदावार के साधनों को किसान-मजदूरों की सम्पत्ति बना देना चाहते हैं, ताकि उनकी मेहनत का पूरा फल उन्हें मिल सके।

इसी प्रकार खेती की भूमि के सम्बन्ध में भी मार्क्सवादियों का सिद्धान्त है कि भूमि को कोई व्यक्ति पैदा नहीं करता, उसका केवल उपयोग ही किया जाता। भूमि का महत्व इसीलिये है कि समाज उसका उपयोग करता है। इसलिये भूमि पर अधिकार भी समाज का ही होना चाहिये और जो लोग भूमि पर जितने समय के लिये खेती करें, उतने समय के लिये उन्हीं लोगों का अधिकार भूमि के उस टुकड़े पर होना चाहिये। राष्ट्रीय प्रबन्ध या सार्वजनिक कामों से जो लाभ किसान को होता है, उसके लिये किसान के हिस्से के खर्च के अलावा किसान से कोई कर या टैक्स न लिया जाना चाहिये।

समाज में प्रायः खेती की ज़मीन उन लोगों की सम्पत्ति होती है जो स्वयं खेती नहीं करते। मालिक होने के नाते वे लोग खेती की ज़मीन पर परिश्रम कर पैदावार उत्पन्न करने वालों की मेहनत का फल अपने उपयोग के लिये लगान या टैक्स के रूप में ले लेते हैं; क्योंकि इन लोगों के पास यह कहने की शक्ति है कि भूमि उनकी ही सम्पत्ति है। पुराने समय में यह शक्ति सरदार के हाथ में, उसकी शक्त शक्ति के कारण थी। जो उसकी आज्ञा न मानता उसका सिर उतार दिया जाता। आज यह शक्ति ज़मींदार या जागीरदार के हाथ में सरकारी क़ानून के कारण है। जिस क़ानून को ज़मींदार श्रेणी और उसी तरह की पूँजीपति श्रेणियों ने अपने लाभ के लिये बनाया है।

मार्क्सवाद का कहना है कि सम्पत्ति और भूमि की मिलिक्रियत के क़ानून साधनहीन श्रेणियों के परिश्रम को लूटने के अधिकार की रक्षा के लिये पूँजीपति और ज़मींदार श्रेणियों ने अपने हाथ में शक्ति होने के कारण बनाये हैं। इन क़ानूनों और समाज की व्यवस्था में परिवर्तन कर इस प्रकार की व्यवस्था करने की ज़रूरत है कि पैदावार के साधन सम्पूर्ण समाज के मेहनत करने वालों की सम्पत्ति हों और उपयोग में आने वाले पदार्थ परिश्रम करने वाले लोगों को अपने अपने परिश्रम के अनुसार मिल जायँ। इसके साथ ही कला कौशल की उन्नति से पैदावार को इतना बढ़ा दिया जाय कि समाज के व्यक्ति कम समय में ही पैदावार कर उपयोगी पदार्थों को इतने अधिक परिमाण में उत्पन्न कर सकें कि सभी व्यक्तियों को आवश्यक पदार्थ उनकी आवश्यकता के अनुसार मिल जायँ। ऐसी अवस्था लाने के लिये पहली शर्त यह है कि पैदावार के सब साधन समाज में मेहनत करने वाली श्रेणियों की सम्पत्ति हों और उनका उपयोग व्यक्तिगत

मुनाफे के लिये न होकर समाज के हित के लिये हो। परन्तु इसके लिये जरूरत है कि साधनहीन श्रेणी संगठन द्वारा शक्ति संचय कर पैदावार के साधनों, भूमि, मिलों, खानों और दूसरे सभी पैदावार को स्रोतों पर अपना अधिकार कर ले। साधनहीन श्रेणी का पैदावार के साधनों पर अधिकार करने का आन्दोलन गांधीवाद की दृष्टि में अन्याय और हिंसा है।

गांधीवाद में हिंसा के प्रश्न को बहुत अधिक महत्व दिया गया है। मन, वचन, कर्म द्वारा पूर्ण अहिंसा ही गांधीवाद में व्यक्ति और समाज का परम उद्देश्य है। किसी भी प्रकार से किसी भी व्यक्ति या जीव को कष्ट पहुँचाना गांधीवाद की दृष्टि में हिंसा है, और ऐसा करने के लिये गांधीवाद मना करता है।

हिंसा का समर्थन संसार का कोई सिद्धान्त नहीं करता। भेद रहता है केवल दृष्टिकोण का। एक सिद्धान्त की दृष्टि से जो बात हिंसा समझी जाती है, दूसरे सिद्धान्त के दृष्टिकोण से वही बात न केवल अहिंसा समझी जा सकती है, बल्कि उस काम को न करना ही हिंसा को जारी रखना हो सकता है। मार्क्सवाद का दावा है कि मार्क्सवाद समाज से हिंसा को दूर करने का सिद्धान्त है। मार्क्सवाद की दृष्टि में यह एक संसारव्यापी हिंसा है कि जो लोग मेहनत करें वे अपने परिश्रम का पूरा फल न पा सकें या परिश्रम करने के लिये तैयार होने पर भी उन्हें पैदावार के साधनों को छूने के लिये मना कर दिया जाय और वेकार बनाकर भूखे और नंगे रहकर तड़पने के लिए छोड़ दिया जाय। इस प्रकार मनुष्यों को पीढ़ी दर पीढ़ी जीवन के लिये अवसर और आवश्यक साधनों से वंचित कर देना निरन्तर हिंसा है।

हिंसा के अर्थ को यदि खोज की जाय तो इस परिणाम पर पहुँचेंगे कि मनुष्य को जो कुछ भी अप्रिय लगे वह सब हिंसा है।

मनुष्यों को प्रिय-अप्रिय लगता है, अपने हित और संस्कारों के अनुसार। जो बात मनुष्य को अच्छी मालूम नहीं होती या अन्याय मालूम होती है, वही हिंसा है परन्तु न्याय और अन्याय मनुष्य अपने हित और संस्कारों के अनुसार निश्चित करता है। जब मनुष्य या समाज के संस्कार बदल जाते हैं तो हिंसा-अहिंसा और न्याय-अन्याय का विचार भी बदल जाता है। मार्क्सवाद समाज के कल्याण को ही मुख्य समझता है। जिस बात के करने से समाज का कल्याण हो, उसे वह अहिंसा समझता है और जिस काम से समाज में अधिक मनुष्यों पर संकट आ पड़े, वह मार्क्सवाद की दृष्टि में हिंसा है। यदि कुछ व्यक्तियों के पैदावार के साधनों का स्वामी बन जाने से समाज के ६५% मनुष्य दुःख उठाते हैं, तो यह हिंसा है।

गांधीवाद भी समाज के अधिकांश मनुष्यों का दुःख में रहना हिंसा ही समझता है परन्तु इसके लिये वह सम्पत्ति के मालिक बनकर अपना स्वार्थ सिद्ध करने वालों के हाथ से इन साधनों का छीन लेना भी हिंसा समझता है। ऐसा चाहे नेक इरादे से ही की जाय, गांधीवाद में वह गुनाह ही है। गांधीवाद का विश्वास है कि यदि शक्ति प्रयोग द्वारा कोई नेक काम करने का यत्न किया जायगा तो उस काम की नेकी भी हिंसा हो जायगी। मार्क्सवाद इस बात को स्वीकार नहीं करता। गांधीवाद नेकी के उद्देश्य को केवल प्रेरणा द्वारा (समझा बुझा कर) पूरा करने के नियम को स्वीकार करता है। परन्तु जहाँ संस्कारों और स्वार्थ का प्रभाव बहुत गहरा होता है, वहाँ प्रेरणा काम नहीं देती क्योंकि मनुष्य की सब प्रवृत्तियों से बलवान प्रवृत्ति है, स्वार्थ और आत्मरक्षा की। ऐसी अवस्था में मार्क्सवाद शक्ति के प्रयोग को उचित समझता है।

गांधीवाद की विचारधारा की तह में मार्क्सवाद पूँजीवादी समाज के विश्वासों की नींव देखता है। गांधीवाद ने पूँजीवाद के सिद्धान्तों का न्याय मानकर अपनी नीति और आचार का क्रम निश्चित किया है और उसी दृष्टि से गांधीवाद हिंसा और अहिंसा का भी निश्चय करता है। इसका सबसे स्पष्ट उदाहरण है, गांधीवाद का व्यक्ति की सन्पत्ति पर पुश्तैनी हक़ को स्वीकार करना या मालिकों की हित के सामने समाज के हित को कुर्बान कर देना। यदि इस देश के पूँजीपाति समाज हित के विचार से अपनी सन्पत्ति को समाज की सन्पत्ति बनाने के लिये तैयार न हों तो गांधीवाद इस देश के साधनहीन किसान मजदूरों को वह सन्पत्ति मालिकों से छानने का अधिकार नहीं देता। यदि किसान मजदूर शारीरिक शक्ति के प्रयोग से नहीं बल्कि सत्याग्रह (बरना आदि देने के शान्तिमय प्रयत्नों) द्वारा भी अपना इस प्रकार का आन्दोलन चलायें तो भी गांधीवाद उसका समर्थन न करेगा, उसे इसमें अन्याय दिखाई देगा—कायम व्यवस्था और कानून का विरोध दिखाई देगा।

७ सन् १९३५-३६ में अपनी मजदूरी बढ़ाने के लिये कानपुर तथा दूसरे औद्योगिक नगरों में मजदूरों ने हड़ताल कर मिलों के दरवाज़े के सामने बैठकर जो अहिंसात्मक बरना दिया था महात्मा गांधी ने उसकी निंदा की थी। उन्होंने उसे मजदूरों का अन्याय बताया था। महात्माजी ने इस सम्बन्ध में अपने पत्र हरिजन में लिखा था—“As the author of peaceful picketing, I can not recall a single instance, in which I encourage such picketing”. महात्माजी ने अपने पत्र में मिल मालिकों का यह अधिकार स्वीकार किया था कि वे बरना देनेवाले मजदूरों को पुलिस और सरकार की शक्ति द्वारा हटा सकते हैं।

परन्तु क्रायम व्यवस्था या कानून है क्या ? गांधीवाद के अनुसार सम्पत्ति पर व्यक्ति का पुश्तैनी (उत्तराधिकार) हक मनुष्य के कर्मों का फल और भगवान् की इच्छा से है । मार्क्सवाद इसे केवल सम्पत्तिशाली श्रेणी का अपने हितों की रक्षा के लिये बनाया हुआ क्रायदा समझता है । भगवान् और उसकी इच्छा की मार्क्सवाद विशेष परवाह नहीं करता । उसका कहना है कि समाज का कल्याण चाहनेवाली शक्ति का यह कैसला नहीं हो सकता कि लाखों करोड़ों मनुष्य केवल इसलिये आयु भर दुख उठाते रहें कि वे गरीबों के घर पैदा हो गये हैं । पिता की अयोग्यता का दण्ड सन्तान को देना मार्क्सवाद को मंजूर नहीं ।

गांधीवाद के अनुसार समाज की सबसे अच्छी व्यवस्था का आदर्श है 'रामराज्य' । रामराज्य का अर्थ गांधीवाद की दृष्टि में है—मालिक लोग अपनी सम्पत्ति के मालिक रहें, जागीरदार अपनी जागीर के मालिक रहें परन्तु वे लोग अपने मजदूरों, नौकरों और रैयत पर जुल्म न करें । मालिक अपने आश्रितों को अपनी सन्तान की तरह समझें और मजदूर तथा किसान मालिकों को अपने पिता और संरक्षक समझें । मालिक लोग अपने स्वार्थ के लिये मजदूर किसानों पर शासन न करें बल्कि परोपकार के लिये ही ऐसा करें । मार्क्सवाद का कहना है कि लाखों वर्षों का मनुष्य-समाज का इतिहास बताता है कि शासन की शक्ति हाथ में रखने वालों ने शासन सदा ही अपने स्वार्थ के लिये किया है । जितने भी धार्मिक गुरु, अवतार या पैगम्बर कहलाने वाले महापुरुष हुए हैं, उन सभी ने मनुष्य को स्वार्थ त्याग कर दूसरों का हित करने का उपदेश दिया परन्तु इस सबके प्रभाव से भी मनुष्य की प्रवृत्ति बदली नहीं । उनका प्रभाव मनुष्य के स्वभाव में कोमलता, सहिष्णुता और उदारता लाने में थोड़ा

बहुत जरूर हुआ परन्तु उतना ही जितना कि मनुष्य की आर्थिक परिस्थितियों में सम्भव था। इसलिये गांधीवाद का स्वार्थ त्याग का उपदेश भी समाज में शान्ति लाने में सफल नहीं हो सकता क्योंकि वह समाज की उन आर्थिक परिस्थितियों को बदलने का यत्न नहीं करता, जिनके कारण मनुष्य समाज में अशान्ति और विषमता पैदा हो रही है।

गांधीवाद समाज की अवस्था को सुधारने के लिये केवल प्रेरणा और अनुनय विनय के उपाय को ही उचित समझता है^७। मार्क्सवाद मनुष्य की प्रेरणा और तर्क की शक्ति को भी मनुष्य की हाथ पैर की शक्ति के समान ही शरीर की शक्ति समझता है। शस्त्रों की शक्ति को भी वह मनुष्य की शारीरिक शक्ति का अंग समझता है। समाज के कल्याण लिये मनुष्य की शक्ति के तीनों रूपों[†] को वह आवश्यक समझता है। मार काट और युद्ध को मार्क्सवाद मनुष्य की जंगलीपन की अवस्था का चिन्ह मानता है और इस प्रकार की हिंसा और प्रतिहिंसा को वह न केवल व्यक्तियों के परस्पर व्यवहार से दूर करना चाहता है बल्कि सम्पूर्ण समाज और राष्ट्रों के परस्पर सम्बन्ध से भी दूर कर देना चाहता है। परन्तु यदि समाज को हानि पहुँचाने वाली

^७ सन् १९३८ में साम्प्रदायिक बलवों के समय जब कांग्रेसी-ग्रान्तों की सरकारों ने पुलिस और सेना की शक्ति का प्रयोग किया था तो इससे गांधीजी को असंतोष हुआ था। उन्होंने कांग्रेसी सरकारों के इस व्यवहार की आलोचना करते हुए कहा था कि यह कांग्रेस के आदर्श की असफलता है। कांग्रेसी सरकारों को चाहिए कि वे केवल अहिंसात्मक प्रेरणा द्वारा ही साम्प्रदायिक दंगा करनेवाले उपद्रवियों और गुण्डों को सीधे मार्ग पर लायें।

[†] मनुष्य का शारीरिक बल, प्रेरणा की शक्ति, शस्त्रों की शक्ति है।

शक्तियाँ शस्त्रों की शक्ति के प्रयोग से समाज को हिंसा और शोषण की अवस्था में बाँधे रखने का यत्न करें तो मार्क्सवाद उनका विरोध सभी शक्तियों से करना उचित समझता है। मार्क्सवाद यह विश्वास नहीं करता कि संसार से परे किसी अलौकिक शक्ति पर समाज में न्याय की रक्षा और शोषितों की सहायता की जिम्मेदारी है। वह न्याय को क़ायम करने और शोषण को समाप्त करने की जिम्मेदारी समाज के दलित और शोषित लोगों पर समझता है।

गांधीवाद की विचारधारा का आधार है आध्यात्मिक शक्ति की उन्नति, जो मृत्यु के बन्धन से परे है। गांधीवाद एक धार्मिक विश्वास है जो मनुष्य का उद्देश्य केवल इस संसार में ही सफलता प्राप्त करना नहीं समझता बल्कि इस संसार और इस जन्म को केवल परलोक में प्राप्त होने वाली आध्यात्मिक पूर्णता का साधन समझता है। जिन लोगों की विचारधारा का आधार आत्मिक उन्नति और परलोक रहता है, उनका दृष्टिकोण सदा वैयक्तिक रहता है। क्योंकि वे अपनी आत्मा को केवल इस संसार की वस्तु नहीं समझते बल्कि इस संसार से परे उस स्थान की वस्तु समझते हैं, जहाँ न यह शरीर जायगा न यह समाज। इसलिये उन लोगों का लक्ष वैयक्तिक रहता है। गांधीवाद व्यक्ति को समाज का अंग तो स्वीकार करता है परन्तु व्यक्ति की उन्नति का लक्ष और आदर्श वहाँ निश्चित करता है, जहाँ समाज की पहुँच नहीं—अर्थात् आध्यात्मिक पूर्णता और भगवान् से आदेश पाना॥

॥ गांधीजी ने अपने व्यवहार में प्रायः अपनी आत्मिक शक्ति को समाज के बल और संगठित शक्ति से अधिक ऊँचा स्थान दिया है। राजकोट के मामले में और हिन्दू मुस्लिम एकता के प्रश्न पर महात्माजी का उपवास करना इस बात का प्रमाण है।

यद्यपि गांधीवाद साम्यवाद^६ का समर्थन करता है परन्तु मार्क्सवाद की दृष्टि में वह साम्यवाद साधनों की मालिक और शासक श्रेणी की दया और सद्गुणों पर निर्भर अवैज्ञानिक साम्यवाद है, जिसका कि रूप हम रॉबर्टओवन और सेन्टसाइमन के साम्यवाद 'सन्तों के साम्यवाद' के रूप में देख आये हैं। गांधीवाद समाज में जो शान्ति, समता और व्यवस्था चाहता है वह पूँजीपति और जमीन्दार श्रेणियों के शासन और नियंत्रण में ही। इस लिये मार्क्सवाद की दृष्टि में उसे पूँजीवाद की पुनः स्थापना का प्रयत्न ही कहा जायगा। पूँजीवाद की पुनः स्थापना के लिये यत्न करने वाली दूसरी विचारधाराओं, नाज़ीवाद, फैसिस्टवाद और दूसरे पूँजीवादी प्रयत्नों में और गांधीवाद में भेद यह है कि दूसरे वाद पूँजीवाद को स्पष्ट तौरपर शत्रु शक्ति और शासन शक्ति द्वारा कायम करना चाहते हैं परन्तु गांधीवाद उसे जनता के धर्म विश्वास और नैतिक धारणा के परदे में कायम करना चाहता है।

प्रजातंत्रवाद

(Democracy)

समुप्य समाज की आदिम अवस्था के इतिहास में हमें प्रजातंत्र का सबसे पहला आभास मिलता है। उस समय समाज या देश की सीमा बहुत परिमित होती थी। शासन का संगठन एक कबीले या गाँव तक ही परिमित था। उस समय प्रजातंत्र शासन का अर्थ था कि समाज के सब लोग एक स्थान पर बैठकर व्यवस्था के बारे में सलाह मशविरा कर एक निश्चय कर लें। समाज की

^६ समाजवाद और कम्युनिज़म का नहीं।

† मार्क्सवाद धर्म और ईश्वर विश्वास को जनता के दिमाग को मिथ्या भ्रम में बुलाये रखनेवाली अक्रीम का नशा समझता है—

Religion is the opium of masse Lsenin.

उस अवस्था में एक कच्चीले या समाज के सब व्यक्ति समान थे । उनकी आर्थिक अवस्था और साधन समान थे इसलिये उनके अधिकार और स्थिति भी समान थी । परन्तु पैदावार के साधनों और सम्पत्ति के विकास से मनुष्यों में असमानता आ गई और आदिम अवस्था की समानता के मिट जाने के साथ ही समाज का वह आदिम प्रजातंत्र भी मिट गया । आधुनिक इतिहास में प्रजातंत्र का बोलचाला हम उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में देखते हैं जबकि समाज में व्यवसाय और व्यापार की उन्नति और कला-कौशल के विकास से समाज का पुरानी सामन्तशाही और राजसत्ता की व्यवस्था में निर्वाह होना असम्भव हो गया । सामन्त सदाओं के अपनी रैयत पर अधिकार न तो व्यवसायों को स्वतंत्रता पूर्वक व्यवसाय का अवसर देते थे और न भूमि से बंधी हुई उनकी रैयत को, जो नये पैदा होते हुए उद्योग व्यवसायों से अपना निर्वाह करना चाहती थी, गुलामी छोड़कर जाने की आज्ञा देते थे ।

समाज में औद्योगिक क्रान्ति ने आकर उस पुरानी राजनैतिक व्यवस्था को तोड़ दिया जिसमें भूमि के स्वामी सदाओं का ही शासन चलता था । सदाओं के अधिकार की रक्षक राजनैतिक व्यवस्था को बदलने के लिये जो आवाज उठी, वह व्यक्तिगत स्वतंत्रता के आधार पर थी । उसमें मनुष्यमात्र को एक समान मानकर शासन व्यवस्था में समान रूप से भाग लेने का अधिकार प्रजा को दिया गया । प्रजातंत्र की इस माँग का समर्थन फ्रांस के क्रान्तिकारी 'रूसू' ने सामाजिक समझौते के सिद्धान्त से किया जिसके अनुसार शासन की शक्ति किसी एक व्यक्ति का अधिकार नहीं हो सकती । इस सिद्धान्त के अनुसार शासन समाज के हित के लिये, सामाजिक समझौते से कायम

हुआ है और उसमें समाज के व्यक्तियों की अनुमति और राय का होना जरूरी है ।

हजारों वर्ष के विकास से गुजरने के बाद उन्नीसवीं शताब्दी में शासन का संगठन इतना सीमित न था कि सम्पूर्ण समाज या देश की प्रजा एक स्थान पर एकत्र होकर सलाह मशविरे और राय से अपनी व्यवस्था निश्चित कर ले, इसलिये प्रतिनिधियों द्वारा शासन की व्यवस्था की गई । उस समय के विचारकों की राय में प्रतिनिधि शासन प्रणाली ही समाज की स्वतंत्रता का सबसे पूर्ण आदर्श थी । इस प्रतिनिधि शासन प्रणाली की बुनियाद रखी गई वैयक्तिक स्वतंत्रता के आधार पर । मार्क्सवाद की दृष्टि से वैयक्तिक स्वतंत्रता की इस माँग की जड़ में भी आर्थिक कारण थे । वैयक्तिक स्वतंत्रता की यह माँग वास्तव में उस समय नये व्यवसायों और उद्योग धन्दों के आरम्भ होने से सबल होती हुई उस समय की मध्यम श्रेणी, जिसने आज पूँजीपति श्रेणी का रूप धारण कर लिया है, की आर्थिक स्वतंत्रता की माँग थी जिसे सामन्तशाही बंधन, विकास का अवसर नहीं दे रहे थे ।

प्रतिनिधि-प्रजातंत्र-शासन द्वारा मिलने वाली वैयक्तिक स्वतंत्रता ने आर्थिक क्षेत्र में व्यक्ति को जीविका कमाने के लिये स्वतंत्र कर दिया । व्यवसायी लोग स्वतंत्रता पूर्वक कारोबार चलाने लगे और जो लोग सामन्तों की भूमि और रैयत होने के बन्धनों से छूटे थे, वे या तो दस्तकारी से या व्यवसायों के कारोबार में स्वतंत्रता से मेहनत मजदूरी कर जीविका पाने लगे ।

यह वह समय था जिस समय मशीनों की उन्नति आरम्भ हुई । व्यवसाय श्रेणी ने अपनी वैयक्तिक स्वतंत्रता से लाभ उठा मशीनों द्वारा पैदावार को बड़े परिमाण में कर मुनाफा कमाना शुरू किया । प्रजा के उन लोगों ने जिनके हाथ में पैदावार के

साधन न रहे थे, स्वतंत्रता से अपनी मेहनत बेचकर इन व्यवसायों में मजदूरी करनी शुरू कर दी। इस समय समाज में दो श्रेणियाँ प्रकट होगई; एक श्रेणी थी व्यवसायों की, जिन्होंने अपने कारोबार में मुनाफ़े से पूँजी एकत्र कर पैदावार के साधन अपने हाथ में करलिये और दूसरी वह श्रेणी थी जिसके हाथ में जीवन निर्वाह के लिये पैदावार के साधन न रहे। उनके पास जीवन निर्वाह का उपाय था; केवल अपने शरीर के परिश्रम को पूँजीपति व्यवसायों के हाथ बेचना।

मशीनों की बढ़ी हुई पैदावार की शक्ति के सामने मामूली दस्तकारों का टिकना सम्भव नहीं था इसलिये वे भी अपने औज़ार छोड़ कर मजदूर बनगये। अब समाज स्पष्ट तौर पर दो श्रेणियों में बंटगया, एक श्रेणी होगई पैदावार के साधनों की मालिक, जिसके कब्जे में मिलें, खानें और भूमि-उत्पत्ति के सभी साधन हैं, और दूसरी श्रेणी वह, जिसके पास पैदावार का कोई भी साधन नहीं; जो केवल अपना परिश्रम बेचकर ही पेट भर सकती हैं। ज्यों-ज्यों पूँजीवाद बढ़ने लगा त्यों-त्यों कुछ व्यक्तियों के पास पूँजी बड़ी मात्रा में इकट्ठी होने लगी और बहुत बड़ी संख्या बेसरोसामान और बेहीले होगई। मशीनों के विकास ने एक एक आदमी को बीसियों आदमियों का काम करने योग्य बनादिया, जिसका परिणाम हुआ कि मजदूरों की एक बहुत बड़ी संख्या बेकार हो भूखी नंगी फिरने लगी। और यह सब होता है वैयक्तिक स्वतंत्रा के अमल में, जहाँ सभी व्यक्तियों को आर्थिक और राजनैतिक स्वतंत्रता समान रूप से है; परन्तु साधनों की दृष्टि से ज़मीन आसमान का अन्तर है।

पूँजीवादी प्रजातंत्र में समाज का ६५% भाग जीवन निर्वाह के साधनों से रहित है और आर्थिक रूप से पूँजीपतियों के वस में

परन्तु राजनैतिक दृष्टि से स्वतंत्र और समान है। पूँजीवादी प्रजातंत्र देशों में पूँजीपतियों, जमीन्दारों और किसान, मजदूरों के राजनैतिक अधिकार समान हैं। मार्क्सवाद की दृष्टि में ऐसे राजनैतिक अधिकारों का कोई मूल्य नहीं जिनके उपयोग के लिये साधन न हों। अधिकार केवल साधन से होते हैं; और जिस समाज में जिस श्रेणी के पास साधन होंगे, शक्ति और अधिकार भी उसी श्रेणी का होगा। पूँजीवादी प्रजातंत्र में साधन हीनों की स्वतंत्रता का अर्थ है, भूखे और नंगे रह कर मर जाने की स्वतंत्रता। और पूँजीवादियों की स्वतंत्रता का अर्थ है, साधनहीन श्रेणी को अपने बंधनों में जकड़कर अपना स्वार्थ पूरा करने की स्वतंत्रता और अपनी शक्ति से इस प्रकार की राजनैतिक व्यवस्था कायम करने की स्वतंत्रता जिसमें साधनहीन श्रेणी सब प्रकार से शक्तिहीन होकर पूँजीपति श्रेणी के स्वार्थ को पूरा करती जाय। पूँजीवादी प्रजातंत्र राष्ट्रों इंगलैण्ड, फ्रांस, अमेरिका आदि में इसी प्रकार की प्रजातंत्र व्यवस्था है।

पूँजीवादी राष्ट्रों के प्रजातंत्र की वास्तविकता का उदाहरण हम सबसे अच्छी तरह इंगलैण्ड में देख सकते हैं।

पिछले सौ वर्षों से इंगलैण्ड प्रजातंत्र का रक्षक होने का दम भरता आ रहा है और आज दिन भी वह प्रजातंत्र और वैयक्तिक स्वतंत्रता का गढ़ माना जाता है। इंगलैण्ड में प्रजातंत्र शासन की वास्तविकता को देख लेने से हम पूँजीवादी देशों में प्रजातंत्र की असलियत को समझ सकेंगे और इससे दूसरे देशों की प्रजातंत्र शासन प्रणाली का रहस्य भी हमारी समझ में आ जायगा।

इंगलैण्ड में शासन का अधिकार है पार्लिमेण्ट के हाथ में, जिसे जनता की प्रतिनिधि सभा समझा जाता है। इस पार्लिमेण्ट के दो भाग हैं। एक सभा में जिसे लॉर्ड सभा कहते हैं केवल बड़े बड़े जागीरदारों के वंशज लोग ही बैठ सकते हैं। इन्हें प्रजा की

राय की कोई परवाह करने की जरूरत नहीं। दूसरा भाग जिसमें सर्व साधारण प्रजा के प्रतिनिधि रहते हैं, साधारण सभा कहलाता है पार्लिमेण्ट के निर्णय को इंगलैंड में कोई शक्ति रद्द नहीं कर सकती। पार्लिमेण्ट की साधारण सभा के प्रतिनिधियों के चुनाव में कानूनन इंगलैंड के सभी स्त्री पुरुष, जिनकी आयु इक्कीस वर्ष से अधिक है, भाग ले सकते हैं और स्वयम् भी चुनाव के लिये उम्मीदवार बन सकते हैं। चुनाव में राय देने के लिये प्रत्येक व्यक्ति को किसी स्थान पर कम से कम छः मास तक रह चुकने का सर्टिफिकेट पेश करना पड़ता है। यदि किसी व्यक्ति की सम्पत्ति दो या अधिक चुनाव क्षेत्रों में है, तो वह उन सभी चुनाव क्षेत्रों से वोट दे सकता है जहाँ उसकी सम्पत्ति है। इसके अतिरिक्त ग्रेजुएट (बी० ए० पास) लोगों को दो वोट देने का अधिकार रहता है।

इंगलैंड के प्रायः सभी निर्वाचन क्षेत्रों में सम्पत्तिहीन लोगों, किसान मजदूरों की संख्या अमीरों से कहीं अधिक है। पिछली जन संख्या के अनुसार इंगलैंड में सम्पत्तिहीनों की संख्या ६०% है। सम्पत्तिशाली कहलाने वाले १०% में वे लोग भी शामिल हैं जिनके पास छोटा सा खेत या छोटी सी अपनी दुकान है। दूसरों को मजदूर या नौकर रखकर काम कराने वालों की संख्या केवल वहाँ ४% है।

पार्लिमेण्ट के लिये वोट देने का अधिकार सभी मजदूरों, किसानों और सम्पत्तिहीन लोगों को भी है यदि वे किसी स्थान पर छः मास रहने का सर्टिफिकेट पेश कर सकें। परन्तु पूँजीपतियों की मिलों में काम करने वाले और इन पूँजीपतियों द्वारा बसाई मजदूरों की बस्तियों में रहने वाले लोगों के लिये उनकी मिलों में मजदूरी कर स्वतंत्र रूप से वोट देना कठिन काम

है। वे ऐसा केवल उसी अवस्था में कर सकते हैं, जब उनके अपने स्वतंत्र संगठन हो; जो मजदूरों की संगठित शक्ति से उन पर आने वाली मुर्दाबत का सामना करने के लिये तैयार हों। इसके अलावा पार्लियामेंट का उन्मीदवार बनने के लिये या पार्लियामेंट में अपना उन्मीदवार भेजने के लिये कुछ साधनों की भी जरूरत पड़ती है।

कोई भी व्यक्ति जो पार्लियामेंट की मेम्बरी का उन्मीदवार बनना चाहता है, उसे आठ व्यक्तियों का समर्थन अपनी उन्मीदवारी के लिये और १५० पाउण्ड जमानत के तौर पर सरकारी खजाने में जमा करा देना पड़ता है। यदि उन्मीदवार को वोट एक लाख संख्या से कम मिलते हैं, तो उसकी जमानत जप्त हो जाती है। भारत में भी प्रत्येक उन्मीदवार को एक जमानत इसी प्रकार जमा करानी पड़ती है। चुनाव के लिये उन्मीदवार व्यक्ति को, क्या इंग्लैंड में और क्या किसी दूसरे देश में, अपने चुनाव के लिये लोगों को समझाना और दौड़ धूप करनी पड़ती है। इंग्लैंड में यह खर्च कम से कम पाँच सौ पाउण्ड हो जाता है।^३ इंग्लैंड में यदि कोई व्यक्ति पार्लियामेंट के चुनाव का उन्मीदवार बनना चाहता है तो उसे कम से कम छः सौ पचास पाउण्ड का प्रबंध करना होगा। इतनी रकम कोई मजदूर आयु भर की कमाई से भी इकट्ठा नहीं कर सकता। परन्तु राजनैतिक क्षेत्र में

३ भारत में यह रकम कांग्रेस के उन्मीदवारों के लिये बहुत कम, यानी डेढ़, दो सौ से लेकर पाँच सौ हजार रुपये तक खर्च हुई है। दूसरे स्वतंत्र उन्मीदवारों के खर्च का कोई हिसाब नहीं। एक लाख रकम से अधिक चुनाव पर खर्च करना कानूनन अपराध है, इसलिये अधिक रकम खर्च करनेवाले उसे छिपाने हैं। परन्तु चार दोस्तों में उसे पचास हजार या इससे भी अधिक तक स्वीकार किया जाता है। कई व्यक्तियों ने एक एक लाख तक चुनाव पर खर्च किया है।

कानूनन वह एक पूँजीपति के बराबर हैसियत रखता है, जो चाहे तो एक नहीं दस उम्मीदवारों को चुनाव के लिये खड़ा कर सकता है* । ऐसी अवस्था में मजदूरों के लिये स्वयम् उम्मीदवार बन जाना या मजदूर सभाओं द्वारा किसी को उम्मीदवार बना कर सफल कर देना बहुत कठिन काम है ।

इंगलैंड में एक औसत अच्छे मजदूर की आमदनी वर्ष भर में ११७ पाउण्ड से अधिक नहीं होती । आमदनी पर कर देने वाले लोगों का संख्या, जिनकी वार्षिक आमदनी दो हजार पाउण्ड सालाना से अधिक है, इंगलैंड भर में एक लाख से अधिक नहीं । इंगलैंड में प्रतिनिधियों के चुनाव में भाग लेने की सहूलियत है तो केवल इन्हीं लोगों को । इंगलैंड की लगभग चार करोड़ जनसंख्या पार्लिमेण्ट के चुनाव में सुविधा से भाग ले सकने वालों की संख्या प्रति हजार केवल दो है । इसलिये हम इंगलैंड के प्रजातंत्र को केवल २३ प्रति हजार मनुष्यों का प्रजातंत्र कहेंगे ।

देश के शासन की नीति का निश्चय होता है प्रतिनिधि सभा के मेम्बरों द्वारा ; मेम्बर चुने जाते हैं नीति के प्रश्न पर ; लोगों को यह नीति के समझाने के लिये प्रचार के साधनों की जरूरत रहती है । प्रचार का मुख्य साधन है, समाचार पत्र । प्रजातंत्रवादी देशों में प्रेस की स्वतंत्रता का नियम रहता है, इसलिये जो कोई भी चाहे समाचार पत्र चला सकता है; वशर्ते उसमें अश्लील और राजद्रोही बातें न हों । यह स्वतंत्रता सभी के लिये एक समान है, परन्तु पत्र निकालने के लिये हजारों ही रुपये की पूँजी दरकार है । इसलिये अधिकार सबको होने पर भी पत्र निकाल सकना केवल पूँजीवादियों के लिये ही सम्भव है । यदि साधनहीन

* इंगलैंड का एक एक पूँजीपति अपने खर्चे किये उम्मीदवारों के लिये कई कई हजार पाउण्ड खर्च कर देता है ।

लोग चन्दा जोड़कर अपना पत्र निकाल भी लेते हैं, तो वह जल्दी ही घाटे के भंवर में डूब जाता है। आजकल पत्र बिना विज्ञापनों के चल नहीं सकते और विज्ञापन देना बड़े-बड़े पूँजीपतियों के बस की बात है। यह लोग विज्ञापन उन्हीं पत्रों को देंगे जो इनके हित और स्वार्थ की बात कहेंगे। व्याख्यान आदि देकर भी प्रचार किया जा सकता है परन्तु इसके लिये भी एक जगह से दूसरी जगह आने जाने तथा दूसरे खर्च की जरूरत रहती है। गोया कि इंग्लैण्ड का सम्पूर्ण प्रजातंत्र पैसे का खेल है और वे सभी काम जिनमें पैसे की आवश्यकता हो, उन लोगों के लिये असम्भव हैं जिनके हाथ में पैदावार के साधन नहीं। इंग्लैण्ड के प्रजातंत्र की वैयक्तिक, राजनैतिक और आर्थिक स्वतंत्रता केवल उन लोगों के लिये है जो पैदावार के साधनों के मालिक होने के नाते समाज पर शासन कर रहे हैं। जिनके पास साधन नहीं, उनकी कोई आवाज नहीं, उन्हें कानूनन अधिकार तो हरएक बात का है परन्तु अवसर और साधन उनके पास नहीं है और न अवसर और साधन पाने की कोई आशा है।

प्रजातंत्र शासन की वैयक्तिक आर्थिक और राजनैतिक स्वतंत्रता का अर्थ मार्क्सवाद की दृष्टि में केवल कुछ पूँजीवादियों की तानाशाही है, जिनकी संख्या प्रायः हजार में एक या दो होती है। पूँजीवादियों की यह स्वतंत्रता साधनहीनों को जीवन रक्षा के साधनों और राजनैतिक अधिकारों से दूर रखने का अधिकार है। प्रजातंत्रवाद में साधनहीनों के आर्थिक और राजनैतिक अधिकार लँगड़े व्यक्ति के चल सकने के अधिकार की ही भाँति हैं।

मान लिया जाय कि साधनहीन लोग किसी न किसी प्रकार अपने प्रतिनिधियों को चुनकर पार्लिमेण्ट या प्रतिनिधि सभा में अपना बहुमत कर ही लेते हैं और अपने हित के अनुसार कानून

पास कर लेते हैं ; इसका परिणाम क्या होगा ? सभी प्रजातंत्र देशों में सरकार के काम को चलाने के लिये जितनी नौकरशाही (Civil service) है, वह सब पूँजीपति श्रेणी और पूँजीपति श्रेणी की सहायक मध्यम श्रेणी के हाथों में रहती है । साधनहीनों द्वारा पास किये गये कानूनों को अमल में लाना इस नौकरशाही की कृपा पर ही निर्भर करेगा । इन लोगों से स्वभावतः ही यह आशा की जाती है कि यह लोग इन कानूनों को बजाय सफल बनाने के असफल बनाने की ही कोशिश करेंगे ।

साधनहीनों द्वारा सरकार की शक्ति ले लेने पर भी यदि समाज में व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अर्थ पूँजीपतियों की आर्थिक स्वतंत्रता रहेगी तो उस सरकार का दिवाला भी पहले ही दिन निकल जायगा । सरकारों के काम करोड़ों के कर्जे पर चलते हैं और यह रुपया होता है पूँजीपतियों की वैयक्तिक सम्पत्ति । सरकार के कार्य में अपना हित और स्वार्थ पूरा न होता देख यह लोग अपना रुपया सरकारी खजानों से खींचने लगेंगे और सरकार बिना खजाने के रह जायगी । इसके अलावा यातायात के सब साधन रेलें इत्यादि हैं या फौजी सामान के जितने कारखाने और खानें इत्यादि हैं, उनके भी पूँजीपतियों के नियंत्रण में होने से साधनहीनों की सरकार का चलना एकदम असम्भव हो जायगा । सेनाओं पर भी आज दिन पूँजीपति श्रेणी के आफसरों का ही कब्जा है । ऐसी अवस्था में साधनहीन श्रेणी का शासन जनता के वोट के बल पर किसी प्रकार कायम हो जाने पर भी पूँजीवादी प्रथा के रहते उसका सफल होना कभी सम्भव नहीं । पूँजीवादी प्रजातंत्र में साधनहीन श्रेणी की सरकार कायम हो जाने पर पूँजीवादी श्रेणी मध्यम श्रेणी और साधनहीन श्रेणी के अपनी गुलामी में फसे हुए अंग को लेकर—खासकर उन सिपाहियों

के बलपर जो साधनहीन श्रेणी का अंग होते हुए भी अपना जीवन पूँजीपति श्रेणी की कृपा पर निर्भर समझते हैं—साधनहीन श्रेणी सरकार के विरुद्ध सशस्त्र बलवा कर दे सकते हैं। यह बात केवल कल्पना ही नहीं है। स्पेन में मजदूर-किसानों का शासन कायम हो जाने पर वहाँ की ज़मीन्दार और पूँजीपति श्रेणियों ने इसी प्रकार विद्रोह कर, जर्मन और इटैलियन पूँजीपतियों की तानाशाही के बलपर फिर से अपना शासन कायम कर लिया। रूस में भी समाजवादी शासन आरम्भ होने पर वहाँ की पूँजीपति और ज़मीन्दार श्रेणियों ने समाजवादी शासन के प्रति सशस्त्र विद्रोह किया था। परन्तु वहाँ उनके सम्पत्तिहीन कर दिये जाने के कारण उनकी शक्ति इस लायक न रही कि वे समाजवादी सरकार का सामना सफलता पूर्वक कर सकते।

प्रजातंत्र राष्ट्रों में कायम विधान को, जिसे वैयक्तिक आर्थिक और राजनैतिक स्वतंत्रता का नाम दिया जाता है, मार्क्सवाद की दृष्टि से न तो जनता की वैयक्तिक स्वतंत्रता की व्यवस्था ही कहा जा सकता है और न प्रजा का शासन ही कहा जा सकता है। मार्क्सवाद की दृष्टि से इस प्रकार के प्रजातंत्र को पूँजीपतियों की तानाशाही के सिवा और कुछ नहीं कहा जा सकता, जिसमें साधनहीन श्रेणियों को जीविका के साधनों से हीन कर सब अधिकारों से वंचित कर दिया गया है। प्रजा के अधिकारों का तभी कुछ मूल्य हो सकता है, जब उन्हें सबसे पहले जीविका के साधनों पर अधिकार हो। प्रजातंत्र में पूँजीपतियों को आर्थिक और राजनैतिक स्वतंत्रता देकर जनता की स्वतंत्रता का अन्त कर देना है। मार्क्सवाद में दूसरों के अधिकारों को छीन लेने की स्वतंत्रता—जैसी कि पूँजीवादी प्रजातंत्र शासन में पूँजीपतियों को है, अन्याय है।

मार्क्सवाद के सिद्धान्त के अनुसार वास्तविक प्रजातंत्र तभी स्थापित हो सकता है जब सम्पूर्ण प्रजा को उत्पत्ति के साधनों पर समान अधिकार हो। पैदावार के साधनों पर सब लोगों का समान अधिकार तभी हो सकता है जब कि पैदावार के साधनों पर किसी भी व्यक्ति का अधिकार न होकर सम्पूर्ण समाज का अधिकार हो। इस विचार से प्रजातंत्र शासन व्यवस्था यदि सम्भव है, तो केवल समाजवादी व्यवस्था में ही।

अराजवाद (अनार्किज़्म)

अनार्किज़्म का अर्थ प्रायः समझा जाता है, समाज में किसी प्रकार की शृंखला या व्यवस्था का न होना। परन्तु अनार्किस्ट या अराजवादियों का यह उद्देश्य नहीं कि समाज में कोई व्यवस्था न हो। वे केवल शासन के बन्धन को दूर कर देना चाहते हैं। अराज और अराजकता में भेद है॥ अराज शब्द का अर्थ है समाज में शासन का बंधन न होना और अराजकता का अर्थ है, गड़बड़ी हो जाना। अराजवादी समाज से शासन को इसलिये दूर नहीं करना चाहते कि अव्यवस्था और गड़बड़ी फैल जाय, बल्कि इसलिये कि शासन का उद्देश्य समाज में मौजूद अन्याय और विषमता को शक्ति के जोर से कायम रखना है। इस बात को दूसरे शब्दों में यों कहा जायगा कि शासन का प्रयोजन है—समाज में असंतोष को प्रकट न होने देना। समाज में असंतोष के कारण हैं। शासन उन

॥ अंग्रेज़ी में अनार्क शब्द का अर्थ प्रायः बगावत के अर्थों में लिया जाता है परन्तु मूल शब्द ग्रीक भाषा का है और उसका अर्थ बगावत नहीं, बल्कि शासन का न होना है। अनार्किस्ट लोगों का उद्देश्य समाज में अव्यवस्था या गड़बड़ मचा देना नहीं, बल्कि शासन या बन्धन का अन्त कर देना है।

कारणों, अर्थात् विपमता को दूर करने का यत्न नहीं करता, न उसके लिये अवसर देता है। वह केवल शक्ति के प्रयोग से असंतोष को प्रकट नहीं होने देता। असंतोष के प्रकट न होने से असंतुष्ट लोगों की शिकायत दूर नहीं हो सकती और यदि समाज में एक बहुत बड़ी संख्या असंतुष्ट लोगों की है, तो उस व्यवस्था को आदर्श व्यवस्था नहीं समझा जा सकता। शासन का उद्देश्य है, समाज की असंतुष्ट श्रेणियों पर नियंत्रण रखना। नियंत्रण रखने की आवश्यकता उसी समय होती है जब असंतोष के कारण मौजूद हों। यदि असंतोष के कारण न हों, तो नियंत्रण की भी जरूरत न रहे। अराजवादी लोगों का कहना है कि समाज में असंतोष के कारण नहीं रहने चाहिये और न नियंत्रण होना चाहिये।

मार्क्सवाद की दृष्टि से अराजवादियों का उद्देश्य गलत नहीं। मार्क्सवाद भी समाज से आर्थिक शोषण के आधार पर श्रेणियों का भेद मिटाकर असंतोष के कारणों और नियंत्रण को दूर करना ही अपना उद्देश्य समझता है। परन्तु मार्क्सवाद अराजवाद से इस बात में सहमत नहीं कि समाज में मौजूद शासन को उखाड़ फेंकने से ही भविष्य में शोषण और असंतोष का अन्त हो जायगा और नियंत्रण की आवश्यकता न रहेगी। मार्क्सवाद का कहना है कि मौजूदा शासन व्यवस्था को जो साधनहीन श्रेणियों के शोषण पर क़ायम है, उसे तो समाप्त कर देना चाहिये परन्तु इस व्यवस्था की जगह एक ऐसी व्यवस्था क़ायम करनी चाहिये जो शोषण के लिये नई परिस्थितियाँ पैदा न होने दें और असंतोष के कारणों को भी पैदा न होने दें। यह नई व्यवस्था होगी स्वयं मेहनत करने वालों की सरकार, जो किसी का शोषण न करेंगे और असंतोष का कोई कारण पैदा न होने देंगे।

ऐसी अवस्था में यदि किसी को असंतोष हो सकता है, तो केवल उन्हीं लोगों को जो शोषण करते आये हैं, और आगे भी करना चाहते हैं। ऐसे लोगों को संतुष्ट करने के लिये हजारों लाखों का शोषण करने की आज्ञा नहीं दी जा सकती। इन लोगों का सन्तोष केवल इनका अभ्यास सुधारने से हो सकता है, इसके साथ ही समाज में एक व्यवस्था द्वारा पैदावार और बँटवारे को ऐसे ढंग पर लाने की जरूरत है, जिससे सभी लोगों की आवश्यकता पूर्ण होकर सभी को संतोष हो सके। यह नयी व्यवस्था या साधन-हीन श्रेणी की सरकार अपना नियंत्रण व्यक्तियों पर न कर, पैदावार के साधनों, पैदावार के ढंग और बँटवारे के ढंग पर ही करेगी। इस प्रकार असंतोष के कारणों और नियंत्रण की आवश्यकता शनैः शनैः मिटती जायगी और नियंत्रण भी घटता जायगा। जब सब काम और व्यवस्था प्रजा और जनता की इच्छा के अनुसार ही होंगे, तो उसे नियंत्रण नहीं कहा जायगा। नियंत्रण, या शक्ति प्रयोग की आवश्यकता उसी समय होती है जब जनता को या समाज के बहुत बड़े भाग को उसकी इच्छा के विरुद्ध किसी अवस्था में रहने के लिये मजबूर किया जाय। मार्क्सवादी दृष्टिकोण से नियंत्रण और शक्ति प्रयोग के लिये सरकार का अन्त उसी समय हो जायगा, जिस समय सरकार शोषण करने वाली श्रेणी के हाथ से निकल कर शोषित श्रेणी के हाथ में आ जायगी। इसके बाद जो व्यवस्था कायम होगी वह दमन के सिद्धान्त पर नहीं, बल्कि जनता द्वारा अपने लाभ के खयाल से अपनी इच्छा से तरीका कायम करने के लिये होगी। समाजवादी व्यवस्था में सरकार का यही प्रयोजन और अर्थ होगा। इसके बाद जब समाज उत्पत्ति को आवश्यकता अनुसार बढ़ाकर सम्पूर्ण समाज की सभी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के योग्य

हो जायगा और सब लोग समाज के लिये उपयोगी कामों को स्वयं इच्छा और उत्साह से करने लगेंगे तो नियंत्रण और शासन की न तो आवश्यकता रहेगी और न बढ़ रह ही सकेगा। मार्क्सवाद के सिद्धान्त के अनुसार समाज को शासन और नियंत्रण से मुक्ति दिलाने का उपाय मौजूदा समाज में से सरकार को उखाड़ फेंकने के लिये बगावत करना नहीं बल्कि शोषण की व्यवस्था का अन्त करना है। शोषण को कायम रखने के लिये ही सरकार का चौखटा समाज पर कसा जाता है, यदि समाज में शोषण न रहेगा तो न सरकार की जरूरत रहेगी और न सरकार रहेगी।

विश्व-क्रान्ति का सिद्धान्त

ट्राट्स्की और स्टैलिन^४ दोनों ही अपने आप को मार्क्सवादी समझते हैं। जहाँ तक मार्क्सवाद के राजनैतिक आर्थिक और दार्शनिक सिद्धान्तों का सम्बन्ध है, उनमें कोई भेद नहीं। परन्तु संसार में समाजवाद स्थापित करके कम्युनिज्म की स्थापना के योग्य समाज की अवस्था को बनाने के सम्बन्ध में उनके कार्य क्रम में भेद हैं।

मार्क्सवाद के अनुसार समाजवाद और कम्युनिज्म का उद्देश्य संसार व्यापी कम्युनिस्ट समाज की स्थापना करना है। जिस समाज में पैदावार के साधनों पर व्यक्तिगत मिल्क्रियत न रहने से मुनाफा कमाने का उद्देश्य और अवसर न रहेगा और पैदावार करने वालों में परस्पर मुकाबिला भी न रहेगा, समाज में पैदावार के साधनों

^४ ट्राट्स्की का वास्तविक नाम था—Leon Davidovitch Bronstein. स्टैलिन का वास्तविक नाम है—Joseph Vissarionovitch D' Jugashvilli.

की मालिक और पैदावार के साधनों से हीन शोषक और शोषित श्रेणियाँ भी न रहेंगी। केवल एक देश में ही इस प्रकार के श्रेणी और शोषणहीन समाज की स्थापना करना, समाजवाद और कम्युनिज्म का उद्देश्य नहीं। मार्क्सवाद न केवल सम्पूर्ण संसार में इस प्रकार की समाजवादी व्यवस्था कायम करना अपना उद्देश्य समझता है बल्कि उसका सिद्धान्त है कि पूर्ण और वास्तविक समाजवाद की स्थापना अकेले एक देश में सम्भव ही नहीं। पूँजीवाद एक श्रेणी के द्वारा दूसरी श्रेणी के निरन्तर शोषण की नौव पर कायम है और इस शोषण के क्षेत्र की कोई सीमा नहीं। पूँजीपति श्रेणी अपने शोषण को केवल अपने देश में ही सीमित नहीं रखती बल्कि सभी देशों में अपने व्यवसाय को फैलाकर मुनाफ़ा कमाने का यत्न करती है और मुनाफ़ा कमाने के इस कार्य में संसार के भिन्न भिन्न देशों के पूँजीपतियों में परस्पर सहयोग और संघर्ष चलता रहता है। किसी देश के पूँजीपतियों की शक्ति केवल अपने ही देश की शोषित श्रेणी के शोषण पर निर्भर नहीं करती बल्कि दूसरे देशों की शोषित श्रेणियों का भी शोषण कर वे अपनी पूँजी की शक्ति को बढ़ाते हैं। इसलिये पूँजीवादी व्यवस्था के शोषण से मुक्ति पाने के लिये शोषित श्रेणियों का आन्दोलन भी सभी राष्ट्रों में परस्पर सहयोग से ही चलना चाहिये।

समाजवाद और कम्युनिज्म की स्थापना साधनहीन और शोषित श्रेणी द्वारा शोषक श्रेणी पर विजय प्राप्त कर शोषक श्रेणी का अस्तित्व मिटा देने से ही होती है। यदि किसी देश की शोषित श्रेणी केवल अपने ही देश की शोषित श्रेणी को मिटाकर सन्तोष कर लेती है तो दूसरे देशों की पूँजीपति श्रेणियाँ उस देश पर आक्रमण करेंगी। समाजवादी देश पर पूँजीपतियों का यह आक्रमण न केवल सस्ता व्यापारिक माल उस देश में भेजकर, या कच्चा

माल और दूसरे आवश्यक पदार्थ उस देश में भेजना बन्द कर, उस देश के उद्योग धन्धों को तहसनहस करने के रूप में ही हो सकता है बल्कि सशस्त्र और सैनिक आक्रमण द्वारा भी हो सकता है। क्योंकि किसी एक देश में साधनहीन और शोषित श्रेणी की अपनी व्यवस्था कायम करने में सफलता सभी देशों की शोषित और साधनहीन श्रेणियों को इस प्रकार की क्रान्ति के लिये उत्साहित कर सकती है और सभी देशों के पूँजीपतियों के देशों में पूँजीपति श्रेणी के लिये आपत्ति खड़ी कर सकती है। इसलिये पूँजीपतियों में परस्पर सदा विरोध और मुकाबिला जारी रहने पर भी शोषित और साधनहीन श्रेणी के पूँजीवाद को नष्ट कर देने के आन्दोलन के मुकाबिले में वे सब एक होकर उसे कुचल देने का यत्न करेंगे। इस विचार से मार्क्स, और मार्क्सवाद को क्रियात्मक रूप देनेवाले लेनिन ने समाजवाद और कम्यूनिज्म को एक देश का आन्दोलन नहीं बल्कि, अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन बताया है। इन दोनों का ही कहना है कि समाजवाद एक देश में सफल नहीं हो सकता। समाजवाद की पूर्ण सफलता के लिये उसका सभी राष्ट्रों में स्थापित होना जरूरी है। वास्तविक समाजवाद की स्थापना के लिये एक देश के किसान, मजदूरों और साधनहीन लोगों की क्रान्ति सफल नहीं हो सकती उसके लिये साधनहीन शोषित श्रेणी की संसार व्यापी क्रान्ति की आवश्यकता है। ट्राट्स्की और स्टैलिन दोनों ही संसार व्यापी क्रान्ति के सिद्धांत को स्वीकार करते हैं परन्तु उसे क्रियात्मक रूप देने के लिये के कार्यक्रम और नीति में दोनों का भेद है॥ लेनिन के पश्चात् रूस

॥ इस पुस्तक में हम मार्क्सवाद का अध्ययन केवल सिद्धांतों के रूप में कर रहे हैं इसलिये स्टैलिन और ट्राट्स्की के मतभेद के कारण पैदा हो जाने वाली अन्तर्राष्ट्रीय बटनाओं का जिक्र हम यहाँ न करेंगे।

की समाजवादी व्यवस्था को चलाने के नेतृत्व का काम कम्युनिस्ट दल ने स्टैलिन को सौंपा परन्तु ट्राट्स्की भी मार्क्सवाद का बहुत बड़ा विद्वान और विशेषज्ञ समझा जाता है और रूस की क्रान्ति के पुराने नेताओं में से होने के कारण उसका प्रभाव भी कम नहीं। रूस में समाजवाद को सफल बनाने और समाजवाद के लिये विश्व-क्रान्ति करने की तैयारी के कार्य क्रम के बारे में इन दोनों का मतभेद हो गया और वह मतभेद यहाँ तक बढ़ा कि वह सिद्धान्तों का भेद जान पड़ने लगा। रूस की समाजवादी व्यवस्था और कम्युनिस्ट पार्टी ने स्टैलिन की नीति को अधिक युक्ति संगत देखकर उसके अनुसार ही अपना कार्यक्रम निश्चित किया। रूस की समाजवादी व्यवस्था और रूस की कम्युनिस्ट पार्टी के निर्णय को स्वीकार न करने के कारण ट्राट्स्की को रूस से निर्वासित कर दिया गया।

जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं ट्राट्स्की और स्टैलिन का भेद वास्तव में कार्यक्रम का ही भेद है, इसलिये उसकी सचाई भी सफलता से ही जाँची जा सकती है। ट्राट्स्की और स्टैलिन का मतभेद प्रायः १९२१ में लेनिन की मृत्यु के बाद ही प्रकट हो गया था तब से आज तक रूस की शक्ति अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में जिस प्रकार बढ़ी है, उसका सब श्रेय स्टैलिन की नीति को ही है। सिद्धान्त रूप से संसार व्यापी क्रान्ति के सिद्धान्त को ठीक मान कर भी यदि रूस में समाजवादी क्रान्ति करने के बाद रूस की शक्ति को रूस में शोषित श्रेणी की शक्ति और व्यवस्था कायम करने के लिये उपयोग में न लाकर दूसरे देशों में क्रान्ति करने की चेष्टा में खर्च किया जाता तो इसका क्या परिणाम होता ? प्रथम तो सभी देशों में क्रान्ति के योग्य परिस्थितियाँ एक ही समय नहीं आ सकतीं और क्रान्ति को सफल बनाने के

लिये किसी देश में मौजूद अवस्थायें और क्रान्ति करने वाली श्रेणी की इस काम के लिये तैयारी का सबसे अधिक महत्व है। यदि किसी देश में इस प्रकार की परिस्थितियाँ और उस देश की वह श्रेणी, जिसे क्रान्ति करनी है, इस क्रान्ति के लिये तैयार नहीं तो समाजवादी देश के उस देश में जाकर क्रान्ति करने की चेष्टा का अर्थ होगा, समाजवादी देश का दूसरे देश पर आक्रमण, जो मार्क्सवाद के सिद्धान्तों के विरुद्ध है। ऐसी अवस्था में पूँजीवादी देश की साधनहीन श्रेणियाँ, जिनमें अभी चेतना और संगठन नहीं हुआ है, समाजवादी देश को अपना शत्रु समझ देशभक्ति के विश्वास से पूँजीवादियों के नेतृत्व में समाजवादी देश की साधनहीन श्रेणी से, जिन्होंने क्रान्तिद्वारा शक्ति प्राप्त करली है युद्ध करने लगेंगी। साधनहीन श्रेणी का यों परस्पर लड़ मरना न केवल क्रान्ति को सफल नहीं बना सकता, बल्कि समाजवादी शक्ति को, जहाँ वह सफल हो सकी है वहाँ भी नष्ट कर देगा। ऐसी अवस्था में उन पूँजीवादी देशों से जहाँ शोषित श्रेणी अभी क्रान्ति के लिये तैयार नहीं, झगड़ा मोल न लेकर एक देश में समाजवाद की सफल होती हुई शक्ति के उदाहरण से और पूँजीवादी देश पर सीधे आक्रमण न कर उस देश की साधनहीन प्रजा को दूसरे उपायों से ही क्रान्ति के लिये तैयार करना ही पूँजीवादी देश की साधनहीन श्रेणी की वास्तविक सहायता होगी। इसके अतिरिक्त रूस का स्वयं समाजवादी व्यवस्था की सफलता को प्रमाणित किये बिना दूसरे देशों की साधनहीन श्रेणियों को राह दिखाने की कोशिश करना एक अच्छा मजाक हो जाता। अभी तक समाजवादी क्रान्ति द्वारा साधनहीन श्रेणी ने शक्ति तो केवल एक ही देश में प्राप्त की है यदि एक देश में प्राप्त शक्ति को संसार के सभी देशों के पूँजीपतियों के मुक्ताविले में लगा दिया

जाता तो यह शक्ति सभी देशों में वँट कर किसी भी देश के पूँजी-पतियों का मुक्ताविला सफलता पूर्वक न कर सकती ।

रूस में समाजवादी व्यवस्था कायम होने पर संसार की सभी बड़ी बड़ी शक्तियों ने मिल कर आक्रमण द्वारा इस व्यवस्था को असफल करने की चेष्टा की थी । चार साल तक इन शक्तियों से लड़कर रूस ने बहुत भारी नुकसान बर्दाश्त कर किसी प्रकार अपनी व्यवस्था को कायम रखा । इस आक्रमण की अवस्था में रूस की जन संख्या बहुत घट गई और रूस की जनता को जीवन के लिये उपयोगी पदार्थों को पैदा करने के बजाय युद्ध की सामग्री पैदा करने और युद्ध लड़ने में ही लगे रहना पड़ा । इसका परिणाम हुआ कि रूस में भयंकर दुर्भिक्ष और बीमारियाँ फैल गईं । चार वर्ष तक इस संकट को झेलने के बाद यदि ट्राट्स्की की नीति पर ही रूस अमल करता तो फिर से दूसरे देशों पर आक्रमण कर रूस उसी अवस्था में अनेक वर्ष के लिये फँस जाता और संसार की पूँजीवादी शक्तियों के मुक्ताविले में जिन्हें किसी भी वस्तु की कमी न थी, रूस हार जाता और यह लोग रूस को आपस में वँट-कर वहाँ अपने उपनिवेश बसाकर समाजवादी व्यवस्था की सफलता को अनेक वर्षों के लिये असम्भव कर देते ।

मार्क्सवाद में विश्वास रखने और साधनहीन श्रेणी की संसारव्यापी क्रान्ति को अपना उद्देश्य समझने के कारण यदि रूस का कर्तव्य इस काम को निभाना है, तो उसे इस काम के लिये शक्ति संचय भी करना होगा । जो शक्ति संसार भर की पूँजीवादी शक्तियों से लड़ना चाहती है, उसे उसके लिये तैयारी भी करनी होगी । इसलिये पहले शक्ति संचय किये बिना उसे बिखेरते जाना परिस्थितियों को नज़र में रखकर काम करना न होता, जो कि मार्क्सवाद का आधार-भूत सिद्धान्त है ।

रूस की मौजूदा नीति के सफलता की कसौटी पर ठीक उत्तर जाने पर भी स्टैलिन का यह कहना है कि मार्क्सवाद का सिद्धान्त संसारव्यापी क्रान्ति ही है और वास्तव में ही समाजवाद और और समष्टिवाद किसी एक देश में उस समय तक सफल नहीं हो सकता जब तक वह सम्पूर्ण संसार में क़ायम न हो ठीक है। इसमें सन्देह नहीं कि रूस में साधनहीन श्रेणी के हाथ में शक्ति है और रूस के मज़दूर-किसान मेहनत करने वाले लोग अपने परिश्रम के परिणाम के मालिक हैं परन्तु वहाँ अभी तक उतनी उन्नति नहीं हो पायी है जितनी कि समाजवाद के कारण हो सकती थी। इसका कारण यही है कि संसार के दूसरे देशों में समाज-वादी व्यवस्था अभी तक क़ायम नहीं हो पायी।

संसार के पूँजीवादी देशों के रूस के विरोध में तैनात रहने के कारण रूस को भी युद्ध के लिये तैयार रहना पड़ता है और यह युद्ध की तैयारी भी कैसी कि संसार भर के पूँजीवादी देशों की संयुक्त शक्ति के खिलाफ़ मुकाबिले की तैयारी। इस तैयारी के लिये रूस को जो हज़ारों ही हवाई जहाज़, हज़ारों टैंक और हज़ारों मील लम्बी क़िलाबन्दी करनी पड़ी है और अपने लाखों जवानों को सिपाही सजाकर रखना पड़ता है, उसमें जितनी शक्ति नष्ट होती है ? यदि वह सब रूस अपनी प्रजा के औद्योगिक विकास के लिये कर सकता या विश्व क्रान्ति के लिये कर सकता तो संसार की अवस्था कहीं अधिक उन्नत हो जाती। परन्तु इस तैयारी के न करने का अर्थ होता, किसी भी दिन जर्मनी या इटली उसे मारपीट कर ठीक कर देते और विश्व-क्रान्ति का हवाई महल गिरकर समाप्त हो जाता। इस प्रकार हम देखते हैं कि मार्क्स-

❖ रूस के किसान मज़दूरों की आर्थिक अवस्था इस समय रूस के पुराने पूँजीवादी शासन की अपेक्षा तेरह गुणा सुधर चुकी है।

वाद के विश्व क्रान्ति के सिद्धान्त को सफल करने के लिये पहले समाजवादी क्रान्ति की शक्ति को दृढ़ करना ही जरूरी था ।

मार्क्सवाद का आदर्श अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट व्यवस्था

मार्क्सवादी विचारधारा का उद्देश्य संसार से पूँजीवादी व्यवस्था को दूर कर एक अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट व्यवस्था की स्थापना करना है । मनुष्य-समाज विकास के मार्ग पर अनेक व्यवस्थाओं से गुजरता हुआ पूँजीवादी व्यवस्था में पहुँचा है । पूँजीवादी व्यवस्था समाज को उन्नति के मार्ग पर जहाँ तक ले जा सकती थी ले जा चुकी है । अब उसमें इस प्रकार की अड़चनें पैदा हो गई हैं जिन्हें यदि दूर नहीं किया जायगा तो वे मनुष्य-समाज को अवनति के गढ़े में गिरा देंगी । समाज की व्यवस्था से इन अड़चनों को दूर करने का एक ही उपाय है और वह है अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट व्यवस्था ।

कम्युनिस्ट व्यवस्था द्वारा समाज में जीवन की आवश्यकताओं को पूर्ण करने वाले पदार्थ पूँजीपतियों द्वारा मुनाफ़ा कमाने के लिये उत्पन्न नहीं किये जायँगे, दूसरे के परिश्रम से लाभ उठाने का अवसर न होगा, पूँजीपति लोग समाज की आवश्यकता का विचार न कर निजी लाभ के लिये किसी पदार्थ को बहुत अधिक और किसी को बहुत कम पैदा कर गड़बड़ न मचा सकेंगे, एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का और एक श्रेणी दूसरी श्रेणी का शोषण न कर सकेगी । श्रेणियों का परस्पर विद्रोह और विरोध न रहेगा, श्रेणियों और राष्ट्रों के आपस के विरोध से मनुष्यों का परिश्रम और अपार सम्पत्ति नष्ट न होकर समाज के कल्याण के लिये खर्च होगी ।

सम्पत्ति के साधनों पर व्यक्तियों का निजी अधिकार न होने से उनमें मुनाफ़ाखोरी के लिये मुकाबिला न रहेगा । जितनी

पैदावार होगी वह समाज के उपयोग के लिये ही होगी और समाज की आवश्यकताओं का अनुमान कर उसे पूरा करने के लिये होगी । उद्योग धन्दों और कला-कौशल के विकास से पैदावार के साधनों की इतनी उन्नति हो जायगी कि शारीरिक परिश्रम लोगों को अरुचिकर और अप्रिय न मालूम होगा । जीविका निर्वाह के लिये परिश्रम एक मुसीबत न होकर एक शौक के रूप में होगा । सभी लोगों की आवश्यकतायें पूर्ण होजाने के कारण असमानता भी न रहेगी । दिमागी काम और शारीरिक काम में से एक सम्मान जनक और दूसरा असम्मान जनक न समझा जायगा । परिश्रम के कामों के सहूल बन जाने से स्त्री की शारीरिक निर्वलता का प्रभाव भी दूर हो जायगा और स्त्री-पुरुष की असमानता दूर हो जायगी । समाज में मनुष्य द्वारा मनुष्य का और एक श्रेणी द्वारा दूसरी श्रेणी का शोषण रहने से कोई काम किसी की इच्छा के विरुद्ध न होगा । इच्छा के विरुद्ध लोगों से काम कराने के लिये उनका दमन या नियंत्रण करने की आवश्यकता न रहेगी इसलिये सरकार जिस काम को करती है वह काम समाज में आवश्यक न होने से सरकार की जरूरत न रहेगी और सरकार वे काम होकर समाप्त हो जायगी । उस समाज में नगर और गाँव के हितों का विरोध भी न रहेगा । उस समय औद्योगिक पैदावार को यथेष्ट बढ़ा सकने के कारण नगरों का वैभव गावों की लूट पर न होगा । गाँव और नगर अपने अपने साधनों से अपने जीवन को ऊँचा उठाते जाँयगे ।

पैदावार के साधनों पर से पूँजीपति श्रेणियों का एकाधिकार (ठेका) हट जाने पर सभी श्रेणियों के लिये शिक्षा की भी समान सुविधा हो जायगी । सब लोगों को वैज्ञानिक शिक्षा की सुविधा होने से प्राचीन संस्कार और रूढ़ियों से छुटकारा पाकर समाज

मिथ्या विश्वासों को छोड़ वैज्ञानिक भौतिकवाद को समझने लगेगा उस समय धार्मिक विश्वासों और संस्कारों के आधार पर क्रायम मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण की गुंजाइश न रहेगी । कला-कौशल और उद्योग धन्दों का पूर्ण विकास होने से जीवन के लिये आवश्यक पदार्थों को उत्पन्न करने में बहुत कम समय लगेगा और शेष समय जनता अपनी मानसिक उन्नति और सांस्कृतिक कार्यों में खर्च कर सकेगी । इस प्रकार श्रेणी युद्ध और अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष से रहित समाज में मनुष्य-समाज की उन्नति का ऐसा अवसर आयगा जो उसके लाखों वर्ष के इतिहास में कभी नहीं आया । इस समाज में मनुष्यों के परिश्रम करने और परिश्रम का फल पाने का सिद्धान्त मार्क्सवाद के अनुसार यही रहेगा— 'प्रत्येक मनुष्य अपनी शक्ति और योग्यता के अनुसार परिश्रम करे और उसे उसकी आवश्यकताओं के अनुसार पदार्थ मिल जायँ ।'

इस अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट व्यवस्था तक पहुँचने का उपाय है वैज्ञानिक समाजवाद । यह समाजवाद वह अवस्था होगी जिसमें साधनहीन शोषित श्रेणी उनपर लगाये आर्थिक बन्धनों और पूँजीवादियों के स्वार्थ के लिये उनके शोषण को जारी रखने के लिये क्रायम की गई राजनैतिक व्यवस्था, जिसे मार्क्सवाद पूँजीपतियों की तानाशाही कहता है, को हटाकर मेहनत करने वाली साधनहीन श्रेणियों के नेतृत्व में ऐसी सामाजिक व्यवस्था क्रायम कर लेगी जिसमें 'सभी व्यक्तियों को जीवन निर्वाह के साधनों के लिये अपने आपको योग्य बनाने का समान अवसर होगा और सभी लोग अपनी मेहनत का पूरा फल पा सकेंगे ।' समाज में शोषण का आधार श्रेणियाँ और श्रेणियों के हितों का भेद न रहेगा ।

इस व्यवस्था को कायम करने के लिये समाज के लिये एक नयी आर्थिक व्यवस्था तैयार करने की जरूरत है जो वास्तव में कोई नई वस्तु नहीं, बल्कि मौजूदा समाज की आर्थिक व्यवस्था में उठ खड़ी होने वाली अड़चनों को दूर कर देना ही है। इन अड़चनों (Internal contradictions) को दूर करने के लिये समाज के इतिहास का आर्थिक दृष्टिकोण से अध्ययन करना चाहिये और उन अड़चनों को पैदा करने वाली परिस्थितियों को समझना जरूरी है। मार्क्सवादी दृष्टिकोण से समाज की नई व्यवस्था के लिये अगले अध्याय में हम मार्क्सवाद के दृष्टिकोण से समाज की आर्थिक व्यवस्था और उसके आधार की विवेचना करेंगे।



माक्सवादी अर्थशास्त्र

समाज में श्रेणियाँ और उनके सम्बन्ध

माक्सवाद की दृष्टि से मनुष्य समाज में आर्थिक विकास का आधार समाज में श्रेणियों का संघर्ष है। समाज में हम मनुष्यों को प्रधानतः दो अवस्थाओं में देखते हैं। एक वे लोग जो प्रायः नगरों के सुन्दर और स्वस्थ भागों में अच्छे अच्छे मकानों में रहते हैं। जिनके लिये सवारियाँ और नौकर चाकर लगे रहते हैं। और दूसरे वे लोग जो नगरों के गन्दे भागों और छोटे मकानों में चीथड़ों से लिपटे हुए दिन बिताते हैं जिनके चेहरे पर थकान के चिन्ह दिखाई देते रहते हैं। इनमें से पहली अवस्था के लोग सब प्रकार के साधनों के मालिक हैं। दूसरी अवस्था के लोगों के हाथ में कोई साधन नहीं। उनके अपने शरीर की मेहनत करने की शक्ति के अलावा इन लोगों के पास और कोई उपाय अपने जीवन निर्वाह का नहीं। पहली अवस्था के लोगों को पैदावार के साधनों का मालिक, ज़मीन्दार या पूँजीपति कहा जाता है और दूसरी अवस्था के लोगों को साधनहीन, किसान या मजदूर।

संसार के सभी देशों में यह दोनों श्रेणियाँ मौजूद हैं। पूँजीपति या ज़मीन्दार समाज की व्यवस्था को चलाते हैं, उसका प्रबन्ध करते हैं। मजदूर किसान लोग उस प्रबन्ध और व्यवस्था के अनुसार काम करते हैं। किसान-मजदूरों के बिना ज़मीन्दार और पूँजीपति लोगों का काम नहीं चल सकता। इन के बड़े बड़े

व्यवसायों को चलाने के लिये मेहनत करने वाले लोगों की एक बड़ी संख्या का होना जरूरी है जो मेहनत करें और पूँजीपति और जमीन्दार श्रेणी को लाभ उठाने का मौका दें। यह कैसे हो सकता है कि एक श्रेणी मेहनत करे और दूसरी श्रेणी लाभ उठाए ? या यह कहिये कि सम्पन्न और समृद्ध श्रेणी के लोग जो कड़ी मेहनत नहीं करते अपने भोग और उपयोग के लिये धन कहाँ से पा जाते ? इस बात है को समझने के लिये हमें यह देखना चाहिये कि समाज में उपयोग के पदार्थ किस प्रकार तैयार होते हैं।

जो लोग मकान, कपड़ा, आदि उपयोग की वस्तुएँ तैयार करते हैं या अनाज पैदा करते हैं, वे जानते हैं कि इन सब पदार्थों को मुहय्या करने के लिये मनुष्य को अपने शरीर से परिश्रम करना पड़ता है। पृथ्वी को जोतकर या खानों को खोदकर वस्तुएँ परिश्रम से ही तैयार होती हैं। प्रकृति और पृथ्वी में सब कुछ होते हुए भी मनुष्य के परिश्रम के बिना उपयोग के लिये कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता।

हम देखते हैं कि पैदावार के काम को व्यक्ति अकेला नहीं कर सकता। बड़ी या छोटी वस्तुएँ जो मिलों और कारखानों में तैयार होती हैं उन्हें तैयार करने में हजारों लाखों आदमियों की मेहनत शामिल रहती है। लोहे के पृथ्वी से निकाले जाकर सूर्इ बनने तक या जमीन को जोत कर कपास पैदा करने से लेकर उसका कुरता बन जाने तक कितने ही आदमियों की मेहनत उसमें लगती है। यह बात न केवल मिलों से तैयार होने वाले सामान की वास्तव ही ठीक है बल्कि हल बैल से की जाने वाली खेती के सम्बन्ध में भी यही बात है। एक हल तैयार करने वाले के लिये जरूरी सामान और बड़ई के हाथियारों को बनाने के लिये भी सम्पूर्ण

समाज की मेहनत दरकार होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पदार्थों की पैदावार का काम हमारे समाज में सम्मिलित तौर पर होता है।

पदार्थों को तैयार करने के लिये कुछ वस्तुओं की जरूरत रहती है; जैसे मकान बनाने के लिये ईंट, लकड़ी या अनाज पैदा करने के लिये बीज, धरती आदि इन पदार्थों को पैदावार के साधन कहा जाता है। इन वस्तुओं के बिना पदार्थ पैदा नहीं किये जा सकते, यह ठीक है; परन्तु मनुष्य के परिश्रम के बिना भी इन वस्तुओं से पदार्थ पैदा नहीं हो सकते। पैदावार के साधन और मनुष्य का परिश्रम यह दोनों मिलकर ही पदार्थों को पैदा कर सकते हैं। किसी मनुष्य या श्रेणी का समाज में क्या स्थान है, उसका दूसरे मनुष्यों या श्रेणियों से क्या नाता है, यह इस बात से निश्चय होता है कि पैदावार के साधनों से उस मनुष्य या श्रेणी का क्या सम्बन्ध है। उदाहरणतः कई सौ वर्ष पहले जब अभी कल-कारखाने नहीं बन पाये थे, उस समय पदार्थों की पैदावार अधिकतर खेती से होती थी। उस अवस्था में भूमि का मालिक ही समाज का शासन करता था और भूमि की पैदावार का बटवारा उसी की इच्छा अनुसार होता था। भूमि को जोतकर पैदावार करने वाले उसकी कृपा पर निर्भर करते थे। आज कल पैदावार का बड़ा भाग कल कारखानों में बनता है इसलिये कल कारखानों के मालिक ही समाज में मालिक हैं और पैदा किये गये पदार्थ उन्हीं के निर्णय के अनुसार समाज में बँटते हैं।

समाज में पैदावार करने के सिलसिले में जितने मनुष्य एक प्रकार का काम करते हैं, वे प्रायः एक ही से ढंग से रहते भी हैं और उनकी एक श्रेणी बन जाती है। इस श्रेणी का पैदावार से जिस प्रकार का सम्बन्ध होता है वैसी ही समाज में उसकी स्थिति

रहती है। यदि वह श्रेणी पैदावार के साधनों की मालिक है तो इन साधनों को काम में लाने वाली श्रेणी पर उसका शासन होगा। वह इन साधनों से पैदा किये गये पदार्थों की भी मालिक होगी और इन पदार्थों को अपनी इच्छा अनुसार बाँट सकेगी। यदि वह श्रेणी पैदावार के साधनों की मालिक नहीं है तो अपने परिश्रम से पदार्थों को तैयार करने के बाद उन्हें पदार्थों का केवल उतना भाग ही मिलेगा जितना कि साधनों की मालिक श्रेणी देना चाहेगी।

मार्क्सवाद का सिद्धान्त है कि साधनों की मालिक श्रेणी सदा ही मेहनत करने वाली श्रेणी से मेहनत कराकर पैदावार का अधिक भाग अपने पास रखने की कोशिश करती है और अपनी मेहनत से पैदा करने वाली श्रेणी अपने जीवन निर्वाह के लिये इन पदार्थों को स्वयं खर्च करना चाहती है। इस प्रश्न को लेकर इन दोनों श्रेणियों में तनातनी और संघर्ष चलता रहता है और यह तनातनी तथा संघर्ष ही मनुष्य समाज के आर्थिक विकास की कहानी है। मालिक श्रेणी और मेहनत करने वाली श्रेणी का यह संघर्ष सदा से चला आया है। परन्तु पूँजीवाद के ज़माने में कल कारखानों के बहुत विराट रूप धारण कर लेने के कारण यह संघर्ष भी बहुत बड़े परिमाण में बढ़ गया है।

जब तक पैदावार के साधन छोटे छोटे और मामूली थे, उनके कारण पैदा होने वाला श्रेणियों का भेद भी मामूली था। जब यह साधन बहुत उन्नत हो गये, जैसा कि पूँजीवादी समाज में है, तो श्रेणियों के भेद ने बहुत उग्र रूप धारण कर लिया। पैदावार के काम से सम्बन्ध रखने वाली इन दोनों श्रेणियों के भेद बढ़ते बढ़ते एक ऐसी अवस्था में पहुँच जाते हैं कि श्रेणियों का यह भेद और परस्पर विरोध आगे पैदावार करने के मार्ग में अड़चन बनने लगते हैं; अर्थात् एक श्रेणी को पैदावार के साधनों और पैदावार

की मालिक और दूसरी श्रेणी को मेहनत करने वाली बनाये रख कर आगे पैदावार करना बहुत कठिन हो जाता है। मार्क्सवाद कहता है, ऐसी अवस्था में इन सम्बन्धों को बदलने की जरूरत पड़ती है। समाज में श्रेणियों के इन सम्बन्धों के बदलने को ही क्रान्ति कहा जाता है। मौजूदा पूँजीवादी समाज में क्रान्ति का अर्थ है कि साधनहीन श्रेणी इन सम्बन्धों को बदल दे और पैदावार की राह में आने वाली रुकावटों को दूर कर अपने जीवन की राह साफ करले। ऐसा करने के लिये साधनहीन श्रेणी को पैदावार के साधनों पर अपना अधिकार कायम करना जरूरी होगा।

परन्तु वर्तमान समाज में पैदावार के साधनों की स्वामी श्रेणी इस बात को प्रसन्नता से स्वीकार न कर लेगी। यह श्रेणी अपने स्वार्थ के लिये साधनहीन श्रेणी को पैदावार के साधन अपने हाथ से लेने न देगी और उन्हें उसी अवस्था में रखने का यत्न करेगी जिस अवस्था में साधनहीन श्रेणी आज है। परन्तु साधनहीन श्रेणी का जीवन इस अवस्था में प्रायः असम्भव हो गया है। इसलिये पैदावार के साधनों पर कब्जा करने के उद्देश्य से इन दोनों श्रेणियों में संघर्ष जरूर होगा।

अपने अधिकारों की रक्षा के लिये पूँजीवादी श्रेणी और उसके सहायक कहते हैं कि समाज की वर्तमान अवस्था बिल्कुल स्वाभाविक और प्राकृतिक नियमों के अनुसार चालू है। इस नियम को बदल देने से समाज का विनाश हो जायगा। परन्तु मार्क्सवाद का सिद्धान्त है कि समाज के नियम और सिद्धान्त अवस्था और परिस्थिति के अनुसार बदलते रहते हैं। इस सम्बन्ध में हम मार्क्सवाद के विचार पहले अध्यायों में स्पष्ट कर आये हैं।

पूँजीवाद का विकास

अब तक मनुष्य समाज का इतिहास रहा है एक श्रेणी द्वारा दूसरी श्रेणी का शोषण । समाजवादी विचारों ने मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण की व्यवस्था का विरोध कर एक नये युग का आरम्भ किया है । इस नये युग की विशेषता है, समाज से श्रेणियों का अन्तर मिटा देना और शोषण के साधनों और कारणों को समाप्त कर देना । समाज में श्रेणियों का अन्त करने का यत्न करने के लिये यह समझ लेना भी जरूरी है कि समाज में श्रेणियाँ वनी कैसे ?

यह सिद्ध करने के लिये कि समाज में श्रेणियों का होना आवश्यक है, पूँजीवादी कहते हैं कि समाज सदा से श्रेणियों का समूह रहा है । परन्तु इतिहास इस बात को निर्विवाद रूप से स्वीकार कर चुका है कि मनुष्य समाज में पारिवारिक और वैयक्तिक सम्पत्ति जमा करने का क्रायदा चलने से पहले मनुष्य-समाज हजारों वर्ष तक बिना किसी श्रेणी भेद के आदिम समष्टि-वाद (Primitive communism) की अवस्था में रहता रहा है ।

पारिवारिक या वैयक्तिक सम्पत्ति का क्रायदा चलने पर ही शोषण की सम्भावना पैदा हुई और शोषण का पहला शिकार या गुलाम । गुलाम प्रथा का आरम्भ होने पर समाज मालिक और गुलाम दो श्रेणियों में बँट गया । इसके पश्चात् मध्य युग में जब सामन्तों और सरदारों के राज्य का जमाना आया, इन सरदारों की निजी भूमि पर बसने वाली प्रजा (रैयत) का शोषण होने लगा। जिन्हें मालिक की इच्छा बिना न कोई काम करने की स्वतंत्रता

* इस विषय की चर्चा हम ऐतिहासिक आधार के प्रकरण में कर आये हैं ।

थी और न उसकी ज़मीन छोड़कर कहीं जाने की। उन्हें मालिक की भूमि जोत कर पैदावार करनी ही पड़ती थी और पैदावार का एक बड़ा भाग सरदार को देना ही पड़ता था। इसके पश्चात् उद्योग धन्दों की उन्नति के ज़माने में अपने परिश्रम की शक्ति को बेचने वाले मजदूर की बारी आती है। जिसके पास पैदावार के साधन नहीं हैं और जो पैदावार के साधनों के मालिक के हाथ जाकर अपने परिश्रम की शक्ति बेचता है। मालिक उसके श्रम से अधिक से अधिक लाभ उठाकर उसे कम से कम मूल्य उसके परिश्रम का देकर उसे विदा कर देता है। मालिक पर मजदूर के जीवन की रक्षा की ज़िम्मेदारी भी नहीं, इसलिये वह मजदूर की शक्ति का शोषण खूब निर्दयता पूर्वक करता है। 'मार्क्सवाद का ऐतिहासिक आधार' प्रकरण में इस विषय पर हम विचार कर आये हैं कि औद्योगिक विकास से पूर्व शोषित श्रेणियों—गुलामों और रैयत का शोषण एक सीमा तक ही हो सकता था। उस समय एक मनुष्य की पैदावार की शक्ति बहुत सीमित थी और गुलाम और रैयत को ज़िन्दा रखने के लिये उन्हें आवश्यक पदार्थ देने की ज़िम्मेदारी भी मालिक पर थी क्योंकि इन लोगों के मर जाने से मालिक का अपना नुक़सान था। उस समय शोषण की सीमा दो बातों से निश्चित होती थी एक तो गुलाम की पैदावार कर सकने की शक्ति की सीमा और दूसरे उसके जीवन की रक्षा के लिये ज़रूरी खर्च। इस प्रकार एक औसत मनुष्य द्वारा की जा सकने वाली पैदावार में से एक औसत मनुष्य के जीवन के लिये जो खर्च ज़रूरी था, उसे निकाल देने पर जो बचता था वही भाग मालिक को मिल सकता था। परन्तु औद्योगिक विकास के बाद पूँजीवाद में मशीन द्वारा एक मनुष्य से कराये जानेवाली पैदावार की तादाद कई गुणा बढ़ गई और अभी

और बढ़ सकती है। इसलिये पूँजीपति मालिक आज दिन एक मजदूर से पैदावार तो कहीं अधिक करा सकता है परन्तु गुलामी और रैयत के स्वतंत्र हो जाने से उनके स्वास्थ्य और जीवन रक्षा की जिम्मेवारी मालिक पर नहीं है, इसलिये मालिक के लिये यह जरूरी नहीं कि मजदूर से काम लेने के बाद उसे या उसके परिवार का पेट भरने लायक मजदूरी जरूर दी जाय। मजदूर को यदि मालिक आधा पेट भोजन के पैसों पर काम करने के लिये राजी कर सकता है तो वह उसे आधा पेट भोजन के पैसे देकर ही अपना काम करा सकता है। मशीनों पर कई कई मजदूरों का काम कर सकने के कारण मजदूरों की कम संख्या में जरूरत होने लगी और मजदूर अधिक संख्या में हो गये। इसलिये बाजार में मजदूरी उसी मजदूर को मिलेगी जो कम से कम मजदूरी पर काम करने के लिये तैयार होगा—या कहिए जो काम अधिक करके और मजदूरी कम लेकर मालिक को अधिक लाभ पहुँचा सकेगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि आज दिन का पूँजीपति मालिक अपने साधनहीन शिकार से पुराने जमाने के शोषकों की अपेक्षा कहीं अधिक लाभ उठा रहा है। पुराने समय में मालिक एक सीमा के अन्दर ही शोषण कर सकता था, प्रथम तो एक औसत मनुष्य की पैदावार की सामर्थ्य से अधिक पैदा नहीं कराया जा सकता था दूसरे उसे जीवित और मजबूत रखने के लिये पर्याप्त पदार्थ देने पड़ते थे। परन्तु आज दिन पूँजीपति मशीन की सहायता से मजदूर द्वारा जितनी पैदावार करा सकता है वह पहले से कई गुणा बढ़ गई है और मजदूर के पूँजीपति की सम्पत्ति न होने से उसके मर जाने या कमजोर हो जाने से पूँजीपति को आर्थिक हानि नहीं होती इसलिये पूँजीपति उसे आवश्यक मजदूरी से कम देने में नहीं हिचकता।

विनिमय

जिस समय मनुष्य बिल्कुल आरम्भिक अवस्था में कुनबों और कबीलों के रूप में रहता था उस समय कबीले के निर्वाह के लिये ज़रूरी काम को सब लोग मिल जुलकर कर लेते थे। कुछ आदमी एक काम को करते तो दूसरे आदमी दूसरे काम को। यह एक प्रकार से कबीले के मनुष्यों में ज़रूरी परिश्रम को बाँट कर करने का ढंग था। परिश्रम को बाँट कर करने से ही विनिमय का आरम्भ होता है। मनुष्य अपने परिश्रम से एक काम को करता और उसे निजी तौर पर उस परिश्रम से तैयार होने वाले पदार्थ की जितनी आवश्यकता है, उससे बहुत अधिक परिमाण में उस पदार्थ को वह तैयार कर लेता है, जिसे दूसरे लोग व्यवहार में लाते हैं और दूसरे लोगों द्वारा तैयार किये गये पदार्थों को वह मनुष्य अपने व्यवहार में लाता है। यही विनिमय है परन्तु यह विनिमय रुपये पैसे के रूप में नहीं होता बल्कि आवश्यक परिश्रम के रूप में होता है।

आरम्भ में जब दो कबीले अपनी आवश्यकता से बचे हुए पदार्थों का विनिमय आपस में करते थे तो वह विनिमय केवल पदार्थों का होता था। जिन कबीलों या देशों में पशु पालन का रिवाज चल गया वहाँ प्रायः पशुओं के मूल्य के आधार पर पदार्थों को ले देकर विनिमय किया जाने लगा। आरम्भ में विनिमय केवल मौके की बात थी परन्तु अनेक देशों की सीमाओं पर रहने वाले कबीलों ने विनिमय में लाभ होता देख कर अपने देशों से सामान ले लेकर दूसरे देशों से विनिमय करना शुरू किया। जहाँ पहले पदार्थ केवल उपयोग के लिये तैयार किये जाते थे वहाँ अब विनिमय के लिये तैयार होने लगे। जब पदार्थ केवल निजी उपयोग और व्यवहार के लिये तैयार होते

ये उस समय उन्हें स्वाभाविक आवश्यकता के अनुसार पैदा किया जाता था। जब पदार्थ विनिमय के लिये पैदा किये जाने लगे तो उनके पैदा करने का उद्देश्य उन्हें व्यवहार में लाना नहीं बल्कि उन्हें दूसरों को देकर और दूसरों द्वारा तैयार किये गये पदार्थों को लेकर उन्हें फिर से विनिमय में बचकर लाभ उठाना हो गया और पैदावार उपयोगी पदार्थों के रूप में नहीं बल्कि सौदे के रूप में होने लगी। रुपये का व्यवहार चल जाने से विनिमय का काम आसान हो गया और वह अधिक मात्रा में होने लगा।

रुपये के रूप में पूँजी जमा होजाने, व्यापार के तेजी से चलने और कलाकौशल के उन्नति करने से पहले गुलामी और सामन्त-शाही के जमाने में जो शोषण होता था वह केवल मालिकों के निजी उपयोग के लिये होता था। अपने उपयोग में मालिक लोग पदार्थों को एक खास मात्रा में ही ला सकते थे इसलिये उस समय का शोषण एक सीमा के भीतर रहता था परन्तु जब शोषण मशीनों की पैदावार से रुपये के रूप में पूँजी बटोरने के लिये होने लगा तो उसकी सीमा नहीं रही। पूँजीपति मुनाफ़ा केवल अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये नहीं कमाते बल्कि मुनाफ़ा कमाकर पूँजी इकट्ठी करके शक्ति बढ़ाने के लिये ही ऐसा करते हैं और पूँजी को किसी भी हद तक बटोर कर आगे मुनाफ़ा कमाने में लगाया जा सकता है।

इस तरह पूँजीवाद में पैदावार उपयोग के लिये न होकर सौदे के रूप में होने लगती है और पैदावार के साधनों के मालिकों का उद्देश्य पैदावार करने में समाज की आवश्यकताओं को पूरा करना नहीं बल्कि सौदा तैयार कर मुनाफ़ा कमाना हो जाता है, जिसे दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि पैदावार का प्रयोजन मेहनत करने वालों का शोषण करना हो जाता है।

मुनाफा कहाँ से ?

यदि विक्री के लिये सौदा तैयार करना हो तो कुछ सामान उसके लिये खरीदना पड़ेगा। इस खरीदे हुए सामान को अपनी मेहनत से सौदे का रूप देकर जब व्यक्ति बाज़ार में बेचता है तो सौदे के रूप में से खरीदे हुए सामान को निकाल देने पर जो कुछ बचता है वही सौदा तैयार करने वाले का लाभ है, या मेहनत का दाम है। इसी प्रकार पूँजीपति जब बड़े परिमाण में सौदा तैयार कराता है तब भी उसका मुनाफ़ा काम पर लगाये मजदूरों की मेहनत से ही होता है। सौदे के मूल्य में से कच्चे माल का मूल्य निकाल देने पर केवल सौदे पर खर्च की गई मेहनत का मूल्य ही बच जायगा। यदि पूँजीपति मेहनत का भी पूरा पूरा मूल्य मजदूर को दे देता है तो मुनाफ़े की गुँजाइश नहीं रहती, पूँजीपति को मुनाफ़ा तभी हो सकता है जब वह मेहनत करने वाले की मेहनत का पूरा मूल्य न दे। इस प्रकार हम देखते हैं कि पूँजीपति के मुनाफ़े का आधार मेहनत करने वाले की मेहनत का पूरा मूल्य न देना ही है।

जब तक पैदावार के साधन ऐसे थे कि मेहनत करने वाले उन्हें अपने पास रखकर उनसे सौदा तैयार कर बाज़ार में बेच सकते थे, वे अपने परिश्रम का पूरा मूल्य पा सकते थे। परन्तु जब पैदावार के साधन पूँजीपति के हाथ में चले गये और मेहनत करने वालों को अपनी मेहनत से तैयार किये गये पदार्थों को खुद बेचने का अधिकार न रहा, बल्कि उन्हें अपनी मेहनत ही बेचनी पड़ी तब उनकी मेहनत का मूल्य निश्चय करना पूँजीपति के बस की बात होगई। इस अवस्था में पूँजीपति मेहनत का मूल्य, मेहनत से होने वाली पैदावार के मूल्य से बहुत कम देगा। मेहनत करने वाले के पास अपना पेट भरने के लिये अपनी मेहनत को

वेचने के सिवा कोई चारा नहीं। पूँजीवाद के युग में मशीनों की उन्नति हो जाने के कारण बहुत से मनुष्यों का काम मशीन की सहायता से थोड़े से मनुष्यों से कराया जा सकता है इसलिये मेहनत करने वाले बड़ी संख्या में बेकार पड़े रहते हैं। मेहनत करके पेट भरने के मौक़े के लिये इनमें छीन-फ़ट चलती है। वे एक दूसरे से कम दाम में अपनी मेहनत को बेचकर किसी तरह पेट भरने का मौक़ा पाना चाहते हैं। पूँजीपति इस परिस्थिति से लाभ उठाकर कम से कम मजदूरी लेना स्वीकार करने वाले मजदूर या नौकर को काम पर लगाता है और उससे अधिक से अधिक काम या पैदावार कराकर अधिक से अधिक मुनाफ़ा कमाने की कोशिश करता है।

सौदे का दाम

मनुष्य के उपयोग में अनेक पदार्थ आते हैं परन्तु सभी वस्तुओं का दाम बाज़ार में नहीं पड़ता, उदाहरणतः जल वायु आदि। दाम उन्हीं वस्तुओं का पड़ता है जो बाज़ार में सौदे के रूप में आती हैं। समाज में पैदावार की पूँजीवादी प्रणाली जारी होने से पहले पैदावार का सौदे के रूप में प्रकट होना जरूरी होता है। पूँजीवादी प्रणाली में शोपण को समझने के लिये यह समझना जरूरी है कि सौदा क्या है।

मनुष्य परिश्रम द्वारा जिन पदार्थों को उत्पन्न करता है, वे उसकी कोई न कोई आवश्यकता पूर्ण करने के लिये होते हैं। जिस पदार्थ से मनुष्य की कोई भी आवश्यकता पूर्ण न हो सके, उसे तैयार करने में परिश्रम न किया जायगा। कुछ पदार्थ ऐसे भी हैं जिन्हें तैयार करने के लिये मनुष्य परिश्रम नहीं करता परन्तु

❖ सौदा शब्द का व्यवहार (Commodity) शब्द के अर्थ में है।

उनमें मनुष्य की आवश्यकता पूर्ण करने का गुण रहता है, उदाहरणतः जल, वायु और जंगली फल आदि । जो पदार्थ मनुष्य की आवश्यकता पूर्ण कर सकते हैं, उन्हें उपयोगी पदार्थ कहते हैं और पदार्थों के इस गुण को उपयोगिता (Use value) कहते हैं । जिन पदार्थों को मनुष्य अपने उपयोग के लिये पैदा करता है उन्हें उपयोगी पदार्थ कहते हैं और जिन पदार्थों को मनुष्य केवल विनिमय के लिये पैदा करता है उन्हें सौदा कहते हैं । सौदे में दो गुण रहते हैं, सौदे का एक गुण है कि वह मनुष्य के उपयोग में आ सकता है, दूसरा गुण सौदे का यह है कि वह दूसरे पदार्थों के परिवर्तन में लिया दिया जा सकता है, या उसका विनियम हो सकता है । जिन दो पदार्थों का आपस में विनिमय हो सकता है, वे दोनों ही सौदा कहलायेंगे और उन दोनों में ही उपयोगिता का गुण होगा । दो सौदों का विनिमय आपस में तभी हो सकता है जब दोनों में समान उपयोगिता हो या उन दोनों सौदों का दाम एक समान हो ।

पूँजीवादी समाज में पदार्थों की उत्पत्ति प्रायः सौदे के रूप में ही होती है या कहिये कि उन्हें विनिमय के लिये ही पैदा किया जाता है । सौदे को पैदा करने वाले व्यक्ति के लिये उसके सौदे का मूल्य उपयोगिता की दृष्टि से कुछ नहीं, क्योंकि उसने उसे उपयोग में लाने के लिये पैदा नहीं किया । खरीदने वालों की दृष्टि में पदार्थ या सौदे का मूल्य उपयोग की दृष्टि से है परन्तु तैयार करने वाले की दृष्टि में सौदे का मूल्य विनिमय की दृष्टि से है ; इस दृष्टि से कि उसका सौदा विनिमय में दूसरे सौदे कितने प्राप्त कर सकता है ।

हम ऊपर कह आये हैं कि कुछ पदार्थ ऐसे हैं जो अत्यन्त उपयोगी हैं परन्तु बाजार में उनका दाम नहीं पड़ता । कुछ पदार्थों

का मूल्य या दाम कम होता है और कुछ का अधिक । उपयोगिता की दृष्टि से वस्तुओं के मूल्य में और उनके बाजार मूल्य या दाम में भी भेद रहता है । उपयोगिता की दृष्टि से वस्तुओं के मूल्य का दर्जा उनकी आवश्यकता के अनुसार जाँचा जा सकता है । जो पदार्थ जीवन के लिये जितना आवश्यक होगा उपयोगिता की दृष्टि से उसका मूल्य उतना ही अधिक होगा परन्तु बाजार मूल्य या दाम की दृष्टि से यह बात नहीं है । जीवन के लिये एक गिलास पानी का मूल्य सोने की ईंट से अधिक हो सकता है परन्तु बाजार में पानी के गिलास का मूल्य कुछ नहीं । सुविधा के लिये हम उपयोगिता की दृष्टि से पदार्थों के मूल्य को केवल मूल्य कहेंगे और बाजार मूल्य को दाम॥ ।

दाम का आधार श्रम है

बाजार में विक्री या विनिमय के लिये जितना सौदा आता है, वह एक दूसरे के विनिमय में लिया दिया जा सकता है । सभी सौदे का दाम होता है । हम बाजार में गेहूँ देकर सोना, सोना देकर चमड़ा, चमड़ा देकर कपड़ा ले सकते हैं । यह विनिमय रुपये की माफ़त भी हो सकता है और सौदे के दाम का अन्दाज़ा लगाकर भी उसका परस्पर विनिमय हो सकता है । जितने पदार्थ आपस में एक दूसरे के विनिमय में लिये दिये जा सकते हैं उनमें किसी न किसी गुण का एक समान रूप से होना आवश्यक है । सभी सौदे उपयोगी होते हैं, यह गुण उनमें समान रूप से होता है परन्तु उपयोगिता के आधार पर उनका दाम निश्चित नहीं होता, यह हम देख चुके हैं । सभी सौदों में दूसरा समान गुण यह है कि वे मनुष्य के परिश्रम का परिणाम हैं ।

॥ मूल्य=Value दाम=Price.

मनुष्य के परिश्रम का परिणाम होने के कारण ही सौदे का दाम होता है और किस सौदे में मनुष्य का कितना श्रम खर्च हुआ है, इसी विचार से उनका दाम कम या अधिक निश्चित होता है। किसी काम में कितना श्रम लगा है, इस बात का निश्चय होता है समय से। किसी काम के करने में अधिक समय लगता है तो उसका दाम अधिक होगा, यदि कम समय लगता है तो कम दाम होगा। किसी सौदे का दाम अधिक है या कम, वह मँहगा है या सस्ता इस बात का अनुमान तभी हो सकता है जब उसे दूसरे सौदे के मुकाबिले में देखा जायगा। यदि रेशम के थान की कीमत अधिक है और रुई के थान की कम; तो इसका अर्थ होगा कि रेशम का थान बनाकर बाजार तक लाने में अधिक परिश्रम करना पड़ा है और रुई का थान बनाकर लाने में कम। प्रतिदिन के व्यवहार में हम सौदे का मूल्य सिक्कों के हिसाब से जाँचते हैं। सिक्का या रुपया सौदे के दाम आँकने का साधन है और वह खास खास परिस्थितियों में कुछ निश्चित समय तक किये गये श्रम को प्रकट करता है। यदि एक थान की कीमत ५ है और एक मेज़ की कीमत भी ५ है, तो इसका अर्थ है कि दोनों को तैयार करने में एकसे समय तक परिश्रम करना पड़ा है। जितनी भी चीज़ें ५ दाम में बाजार में मिल सकेंगी वे सब उतने ही श्रम से तैयार हुई होंगी या हो सकती होंगी। जो कोई आदमी उतना परिश्रम करेगा जितने में ऐसी कोई चीज़ बन सके, उसे पाँच रुपये उस मेहनत के मिल जायँगे। इस प्रकार हम देखते हैं कि दाम परिश्रम का ही होता है।

परिश्रम की शक्ति और परिश्रम का रूप

(Abstract labour and concrete labour.)

समाज में परिश्रम कई प्रकार का होता है। जितने भी अलग तरह के सौदे हम बाजार में देखते हैं, वे सब अलग अलग तरह

के परिश्रम का परिणाम हैं। अनाज के लिये एक किस्म का परिश्रम करना पड़ता है, वन्दूक बनाने के लिये दूसरे किस्म का, किताब बनाने के लिये और किस्म का। यह सब सौदे अलग अलग किस्म के परिश्रम से बनते हैं और अलग अलग तरह की आवश्यकता को पूरा करते हैं। परन्तु इन सब सौदों में एक वस्तु समान है और वह वस्तु है, मनुष्य की शक्ति (या परिश्रम)। अर्थात् सब सौदों की तैयारी में मनुष्य की शक्ति खर्च होती है। किसी भी प्रकार के सौदे को तैयार किया जाय मनुष्य की शक्ति उसमें खर्च होगी, मनुष्य को उसके लिये परिश्रम करना ही पड़ेगा। हम कह सकते हैं कि सभी पदार्थों या सभी प्रकार के सौदों में मनुष्य का परिश्रम खर्च होता है परन्तु उस परिश्रम का रूप भिन्न भिन्न प्रकार का होता है। परिश्रम का एक रूप सौदे के रूप में और इस सौदे से जो आवश्यकता पूर्ण होती है उसके रूप में प्रकट होता है।

परिश्रम का दूसरा रूप प्रकट होता है सौदे के दाम में। पाँच रुपये कीमत का जूता तैयार करने में जो खास तरह का परिश्रम किया गया है, उसका प्रकट रूप है जूता और खर्च की गई शक्ति का परिणाम है पाँच रुपया कीमत। दूसरी तरह के परिश्रम का रूप होगा मेज परन्तु इस परिश्रम में खर्च की गई शक्ति का दाम भी कुछ रुपया होगा। इस प्रकार परिश्रम के जितने भी रूप होंगे उनमें परिश्रम की शक्ति का दाम भी सम्मिलित होगा। इस प्रकार सौदे को तैयार करने के लिये जो परिश्रम किया जाता है, उसके कारण सौदे का बाजार में दाम पड़ जाता है। परिश्रम के रूप और परिश्रम की शक्ति का भेद केवल विनिमय के लिये सौदा तैयार करने में प्रकट होता है। उपयोग के लिये पदार्थ तैयार करने में जो परिश्रम लगता है, उसमें यह भेद प्रकट नहीं होता ; क्योंकि

मूल्य होने पर भी उसका कोई दाम नहीं पड़ता, वह केवल उपयोग में ही आता है। इसे हम यों भी कह सकते हैं, अगर पदार्थों को केवल उपयोग के लिये ही तैयार किया जाय तो उनका दाम आँकने की आवश्यकता न होगी।

रुपया या सिका

सौदे के विनिमय के लिये बाजार में रुपये का उपयोग होता है। सौदा रुपये के हिसाब से ही खरीदा या बेचा जाता है। रुपया सौदे के मूल्य या उपयोगिता को दाम के रूप में प्रकट करता है। सौदे का विनिमय कर सकने से पहले उसका दाम रुपये के रूप में निश्चित होना जरूरी है।

यह हम देख चुके हैं कि सौदे को तैयार करने के लिये जितने समय तक परिश्रम किया जाता है उसी के हिसाब से उसका दाम होता है। परन्तु सौदे का दाम प्रकट करने के लिये यह कहना कि अमुक सौदा बारह घण्टे मेहनत का है या चौबीस घण्टे मेहनत का असुविधा जनक होगा। किसी एक सौदे का दाम दूसरे सौदे के रूप में प्रकट करना भी आसान नहीं। उदाहरणतः यह कहना कि गेहूँ की बोरी का दाम दो बकरी है, या जूते का दाम मेज के बराबर है, एक भ्रम है। विनिमय को आसान बनाने के लिये एक ऐसी वस्तु का विकास किया गया जो अपने रूप में सभी सौदों का दाम, उन पर किये गये परिश्रम के हिसाब से प्रकट कर दे, यही वस्तु रुपया है।

दूसरी वस्तुओं का दाम प्रकट कर सकने के लिये यह आवश्यक है कि रुपये या सिके का अपना भी दाम हो। अर्थात् उसे प्राप्त करने के लिये भी खास समय तक परिश्रम करना पड़े। तभी वह दूसरे सौदे के बदले में लिया दिया जा सकेगा। यदि रुपये का अपना दाम न हो तो उससे दूसरे पदार्थों के दाम का अनुमान

भी नहीं लगाया जा सकता । जिस वस्तु का अपना कोई वजन न हो उस वस्तु से दूसरी वस्तुओं को नहीं तौला जा सकता इसी तरह रुपये का अपना दाम होना भी आवश्यक है, तभी वह दूसरे सौदे के दाम को प्रकट कर सकेगा । प्रत्येक सौदे का दाम रुपये के रूप में निश्चित करने के लिये रुपया जेब में होना आवश्यक नहीं । हम जेब में एक पैसा न होने पर भी लाखों करोड़ों रुपये के दाम के सौदे का हिसाब कर सकते हैं । इस प्रकार रुपया एक माध्यम या जारिया है जो सौदे के दाम को आँकने का साधन है । भिन्न भिन्न सौदों को एक दूसरे के मुकाबिले में रखकर उनके दाम का अनुमान करना कठिन होता है । इसलिये सुविधा के विचार से सभी सौदे का दाम रुपये के रूप में आँक लिया जाता है और सौदे रुपये के रूप में अदले बदले जा सकते हैं । कोई भी सौदा देकर रुपया ले लेने पर इस बात का संतोष रहता है कि उस रुपये से कोई भी सौदा आवश्यकता होने पर ले लिया जा सकता है । रुपये को हम सभी सौदे या पदार्थों का प्रतिनिधि समझ सकते हैं । क्योंकि रुपया होने पर खास परिस्थितियों को छोड़कर कोई भी सौदा सुगमता से प्राप्त किया जा सकता है । इस प्रकार धन संचय करने का रुपया बहुत ही अच्छा साधन है । अनेक सौदों के गोदाम न भर कर केवल रुपया इकट्ठा कर लेने से सभी सौदे को प्राप्त करने की शक्ति इकट्ठी की जा सकती है । हो सकता है सौदे या पदार्थ के रूप में इकट्ठा किया हुआ धन कुछ समय बाद उपयोग के योग्य न रहे परन्तु रुपया सदा ही उपयोग के योग्य बना रह सकता है । रुपये के इस गुण के कारण व्यवसाय और व्यापार में बहुत सुगमता हो जाती है । यदि धन को सौदे के रूप में इकट्ठा करना पड़े तो बहुत कम धन इकट्ठा किया जा सकेगा परन्तु रुपये के रूप में धन बड़ी से बड़ी माँग में भी इकट्ठा किया जा सकता है

और उसे दूसरे व्यवसाय में लगा कर और अधिक मुनाफ़ा कमाने का काम शुरू किया जा सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ रुपया समाज में विनिमय के मार्ग को आसान कर पैदावार को बढ़ाने का काम करता है, वहाँ रुपया मुनाफ़ा खींचने और मुनाफ़ा जमा करने के काम को आसान बनाकर पूँजीवाद की रफ़्तार को खूब तेज़ कर देता है। यदि कोई व्यवसायी या पूँजीपति अपने तैयार किये गये सौदे के रूप में धन संचय करता है तो उस सौदे द्वारा पैदावार के काम को आगे चलाना उतना आसान नहीं, क्योंकि पैदावार के काम को जारी करने के लिये कितने ही प्रकार के सौदों को उपयोग में लाने की ज़रूरत पड़ती है जिन्हें सौदे से बदल कर प्राप्त करना भ्रंशट का काम है। रुपया जो बहुत आसानी से जमा किया जा सकता है सभी प्रकार के सौदों और परिश्रम करने की शक्ति को तुरन्त खरीद कर पैदावार के काम को किसी भी रूप में जारी कर दे सकता है।

इसके अतिरिक्त पूँजीवादी प्रणाली द्वारा पैदावार करने में उधार या कर्ज का भी बहुत बड़ा स्थान है जिसे सौदे या पदार्थ के रूप में लेना, उगाहना और अदा करना बहुत कठिन और भ्रंशट का काम होगा। परन्तु रुपये के रूप में यह सब काम बहुत सुविधा से हो सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि पूँजीवादी प्रणाली में रुपये का स्थान बहुत ही महत्वपूर्ण है। रुपये के अभाव में पैदावार की पूँजीवादी प्रणाली चल ही नहीं सकती। और इसके साथ ही रुपया मेहनत के भाग को उनसे छीन लेने का भी बहुत आसान और सुगम साधन है। सौदे के रूप में ही यदि मेहनत करने वालों की मेहनत उनसे ली जाय तो उसका उपयोग केवल एक हद तक ही हो सकेगा, और उस हद से आगे मेहनत करने वालों का शोषण न किया जायगा परन्तु रुपये के

रूप में मेहनत करने वालों की मेहनत के भाग मुनाफ़े को चाहे जितनी मात्रा में इकट्ठा कर लिया जा सकता है और उसे आगे और मुनाफ़ा कमाने के काम में लगा दिया जा सकता है।

रुपया सभी साधनों को खरीद सकता है, इसलिये वह स्वयम् पैदावार की बहुत बड़ी शक्ति है। जिसके पास रुपया है, वह पैदावार के साधनों का मालिक है। पूँजीवादी युग के आरम्भ में जिस प्रकार रुपये ने पैदावार के परिणाम और चाल को बढ़ाने में सहायता दी, उसी प्रकार वह आज कुछ एक पूँजीपतियों के हाथ में ही पैदावार के सब साधनों को जमाकर और दूसरों को साधनहीन कर रहा है और पूँजीपति के लिये मुनाफ़ा खींचने की सुविधा पैदा कर शेष समाज को पैदावार खरीद सकने के अयोग्य बना रहा है। हम देखते हैं रुपये ने जिस प्रकार पूँजीवादी प्रणाली के विकास को सहायता दी, उसी प्रकार आज वह पूँजीवाद को उसकी अन्तिम सीमा पर पहुँचाकर उसके भीतर अड़चनें पैदा कर रहा है।

आवश्यक सामाजिक श्रम

किसी सौदे को तैयार करने में खर्च हुए परिश्रम का हिसाब समय से लगाया जाता है। जितने समय तक किसी सौदे को तैयार करने में परिश्रम किया जायगा उतना ही उस सौदे का दाम होगा। इस हिसाब से मुक्त और अयोग्य मनुष्य द्वारा तैयार किये गये सौदे का दाम अधिक और योग्य व्यक्ति द्वारा तैयार किये गये सौदे का दाम कम होना चाहिए। परन्तु बात ऐसी नहीं।

किसी सौदे को तैयार करने में कितना समय दरकार है, इसका हिसाब किसी एक व्यक्ति की योग्यता या काहिली से नहीं बल्कि समाज में काम करने वाले साधारण लोगों की योग्यता से

* Socially necessary labour

किया जाता है। यदि कपड़े के एक थान की बुनाई समाज में कपड़ा बुननेवालों की औसत साधारण और योग्यता के अनुसार दस दिन होनी चाहिए और समाज में इतने परिश्रम का दाम पाँच रुपया पड़ता है तो एक थान की बुनाई का दाम पाँच ही रुपया होगा चाहे उसे अधिक योग्य जुलाहा आठ दिन में बुन डाले और एक सुस्त जुलाहा उसे बुनने में चौदह दिन लगा दे।

जब समाज किसी कारोबार में मशीन का व्यवहार करने लगता है, तो उस कारोबार में सौदे की पैदावार के लिये कम समय लगने लगता है। उदाहरणतः कपड़ा बुनने के लिये करघे की जगह जब मशीन का व्यवहार होने लगता है और थान की बुनाई मशीन द्वारा दस दिन के बजाय अढ़ाई दिन में होने लगती है, या दस दिन में एक थान की जगह चार थान बुने जाते हैं तो समाज में एक थान की बुनाई की कीमत ढाई दिन की मजदूरी हो जायगी, बाज़ार में एक थान की बुनाई सवा रुपया ही मिलेगी चाहे हाथ से बुनाई करने वाला जुलाहा उसे दस ही दिन में क्यों न बुनकर लाये। मशीन के आविष्कार और व्यवहार से समाज की पैदावार की शक्ति बढ़ जाती है और पैदावार पर औसत आवश्यक श्रम कम लगने लगता है। ऐसी अवस्था में जिन लोगों के हाथ में सौदे को मशीन द्वारा तैयार करने का साधन है, उनके मुक्ताविले में हाथ से काम करने वाले कारीगर टिक नहीं सकते क्योंकि सामाजिक लाभ की दृष्टि से मशीन के मुक्ताविले में हाथ से मेहनत करना समय के रूप में परिश्रम का व्यर्थ व्यय करना होगा।

साधारणश्रम और शिल्पश्रम ❀

परिश्रम का दाम उस पर खर्च हुए समय से लगाने के सम्बन्ध में एक और आपत्ति की जा सकती है, कि भिन्न-भिन्न प्रकार के

परिश्रम का दाम एक समय के लिये अलग अलग होगा। उदाहरणतः ज़मीन खोदने वाले मज़दूर को एक घण्टे के परिश्रम का दाम उतना नहीं हो सकता जितना कि एक इंजीनियर के परिश्रम का होगा। इसका कारण स्पष्ट है—ज़मीन खोदने का काम कोई भी व्यक्ति एक या दो दिन में अच्छी तरह सीख सकता है परन्तु इंजीनियर का काम सीखने के लिये आठ या दस बरस का समय चाहिये। आठ या दस बरस तक की गई मेहनत का दाम इंजीनियर अपनी मेहनत के प्रत्येक घण्टे और दिन में वसूल करता है। इसीलिये उसके परिश्रम के एक घण्टे का दाम मामूली मज़दूर के एक घण्टे के परिश्रम के दाम से आठ या दस गुणा अधिक होता है।

माँग और पैदावार

हम ऊपर कह आये हैं कि सौदे का मोल बाज़ार में उस पर लगे हुए आवश्यक सामाजिक परिश्रम से निश्चय होता है परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि आवश्यक सामाजिक श्रम से तैयार किया गया सब सौदा बाज़ार में विक्रि जायगा। सौदे के विक्रि सकने से पहले उसका खरीददार चाहिये। कोई भी सौदा एक सीमा तक ही बाज़ार में खप सकता है। उस सौदे की पैदावार यदि बाज़ार में उसकी आवश्यकता से अधिक हो जाती है, तो उसकी विक्री में कठिनाई पड़ेगी। और यदि कोई सौदा माँग से कम तैयार होता है तो उसकी माँग पूरी न होने से उसकी चाह बढ़ेगी। पूँजीवादी समाज में समाज के लिये पैदावार करने का काम पूँजीपति मालिकों के व्यक्तिगत अधिकार में रहता है। जिन्हें इस बात का कोई अन्दाज़ा नहीं होता कि समाज को अमुक अमुक सौदे की कितनी आवश्यकता है उन्हें मतलब रहता है अपना लाभ कमाने से। वे जितना अधिक सौदा बेच सकेंगे उतने ही अधिक

मुनाफे की आशा उन्हें होगी। कई पदार्थों को वे माँग से अधिक पैदाकर देते हैं ऐसी अवस्था में प्रत्येक पूँजीपति अपने सौदे को दूसरों से पहले बेचने का यत्न करता है। उसके लिये आवश्यक होता है कि उसका सौदा दूसरों से सस्ता हो। सौदे का दाम निश्चित होता है उस पर खर्च किये गये आवश्यक सामाजिक परिश्रम से और सौदे को सस्ता करने का उपाय है उस पर खर्च किये गये परिश्रम का दाम कम देना। अर्थात् पूँजीपति अपना मुनाफा तो अवश्य कमायेगा परन्तु मजदूर को मजदूरी कम देने का यत्न करेगा। मजदूरों की संख्या भी बाज़ार में उनकी माँग की अपेक्षा, अधिक है इसलिये मजदूरों को भी एक दूसरे के मुकाबिले में अपने परिश्रम करने की शक्ति बेचने के लिये उसका दाम कम करना पड़ता है। मशीनों द्वारा मेहनत करने वालों में जितनी ही अधिक बेकारी फैलेगी अपने परिश्रम को बेचकर अपना पेट भरने के लिये उन्हें अपने परिश्रम का मूल्य उतना ही अधिक घटाना पड़ेगा। इतने पर भी केवल उतने ही मजदूरी पा सकेंगे जितनों की कि आवश्यकता होगी—शेष मजदूर बेकार ही रहेंगे। बेकार रहने से वे अपने जीवन निर्वाह के लिये आवश्यक सौदे को खरीद न सकेंगे जो कि समाज में उनके लिये लगातार पैदा किया जा रहा है।

समाज में मेहनत की शक्ति का मूल्य घटता जाता है और मशीनों की सहायता से पैदावार की शक्ति बढ़ती जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि सौदे को पैदा करने के लिये पहले से कम आवश्यक सामाजिक श्रम की दरकार होती है और सौदे की पैदावार बढ़ती जाती है। परिणाम होता है कि परिश्रम का दाम पूँजीपति को कम देना पड़ता है और पैदावार बढ़ती जाती है, इससे पूँजीपति के मुनाफे का भाग खूब बढ़ जाता है।

हम देख आये हैं कि समाज में दो श्रेणियाँ हैं। एक श्रेणी है पैदावार के साधनों की मालिक और दूसरी श्रेणी है पैदावार के लिये मेहनत करने वाली। पैदावार के लिये आवश्यक सामाजिक श्रम की आवश्यकता कम होते जाने और पैदावार के बढ़ते जाने का परिणाम यह होता है कि पूँजीपति का मुनाफ़ा तो बढ़ता जाता है परन्तु मेहनत करने वाली श्रेणी का भाग पैदावार में घटता जाता है। मेहनत करने वाली श्रेणी के लोग न तो व्यक्तिगत रूप से ही जितना पैदा करते हैं उतना खर्च पाते हैं और न श्रेणी के रूप में।

इससे पूँजीवाद में अर्थ संकट पैदा होता है अर्थात् समाज में सौदे की पैदावार तो बहुत अधिक हो जाती है परन्तु खपत नहीं हो पाती। जो पैदावार बिक नहीं पाती उसमें लगी हुई पूँजीपति की पूँजी एक तरह से व्यर्थ नष्ट होती है। इसलिये पूँजीपति पैदावार को कम करने की कोशिश करता है। पैदावार को कम करने की कोशिश का परिणाम यह होता है, कि मजदूरों की एक और बड़ी संख्या बेकार हो जाती है और इन के बेकार हो जाने से पैदावार को खरीदने की ताकत मजदूर श्रेणी में, जो कि समाज का ६५% अंग है, और भी घट जाती है। पैदावार को फिर और कम करना पड़ता है। इस प्रकार पैदावार की पूँजीवादी प्रणाली जिसका काम होना चाहिये था समाज में पैदावार को बढ़ाना, परन्तु वह पैदावार को घटाने लगती है, जनता को जीवन की आवश्यकता पूर्ण करने के साधन देने की अपेक्षा उन्हें वह जनता से छीनने लगती है।

इसका उपाय मार्क्सवाद की दृष्टि में यह है कि समाज की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिये जितने आवश्यक सामाजिक श्रम की जरूरत है, उसे सम्पूर्ण समाज सहयोग से करे। कोई भी

व्यक्ति बेकार न रहे। पैदावार के उन्नत साधनों की सहायता से प्रत्येक व्यक्ति को कम परिश्रम करना पड़े और साथ ही पैदावार को बढ़ाया जाय और सब लोग अपने परिश्रम के हिसाब से फल पा सकें। इससे प्रत्येक मेहनत करने वाले को परिश्रम तो पहले से कम करना पड़ेगा—परन्तु सौदा खरीदने का साधन पहले से अधिक प्रत्येक के पास होगा।

पूँजीवाद में शोषण का रहस्य

मार्क्सवाद का विश्वास है कि जिन देशों में पूँजीवाद कायम है वहाँ पूँजीपति और जमींदार लोग साधनहीन किसान-मजदूर और नौकरी पेशा श्रेणी का निरन्तर शोषण करते रहते हैं। परन्तु यह शोषण किस प्रकार होता है इस शोषण का रहस्य क्या है; यह हमें मार्क्सवाद के दृष्टिकोण से देखने का यत्न करना है।

अब तक हम पैदावार के दो रूप देख चुके हैं—प्रथम उपयोगी पदार्थों की पैदावार—पदार्थों को आवश्यकता पूर्ण करने के लिये पैदा करना। दूसरा—सौदे की पैदावार—पदार्थों को विनिमय के लिये सौदे के रूप में पैदा करना। हम यह भी समझ चुके हैं कि आवश्यकता पूर्ण करने के लिये पैदावार करने में मुनाफ़ा कमाने का उद्देश्य नहीं रहता। विनिमय के लिये पैदावार करने में पैदावार का उद्देश्य उपयोग नहीं बल्कि मुनाफ़ा कमाना हो जाता है और आज दिन पूँजीवादी समाज में पैदावार विनिमय के लिये अर्थात् मुनाफ़ा कमाने के लिये ही होती है।

पूँजीवाद क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए लेनिन कहता है:—

“समाज में सभी पदार्थों को सौदे के रूप में विनिमय के लिये उत्पन्न करना और परिश्रम की शक्ति को भी विनिमय की वस्तु की तरह खरीद कर व्यवहार में लाना पूँजीवाद की अवस्था

है” मार्क्स ने भी पूँजीवादी प्रणाली की व्याख्या करते हुए लिखा है—

“पूँजीवादी प्रणाली में सभी पदार्थ विनिमय के लिये तैयार किये जाते हैं। पूँजीवादी समाज में नई बात यह होती है कि मनुष्य की परिश्रम की शक्ति भी बाजार में बेची और खरीदी जाती है। इसके अतिरिक्त पूँजीवादी प्रणाली की विशेषता है मेहनत करने वाले से अतिरिक्त श्रम या ‘अतिरिक्त मूल्य’ के रूप में मुनाफ़ा उठाना—पूँजी द्वारा पूँजी कमाना है। पूँजीवाद अतिरिक्त श्रम या अतिरिक्त मूल्य के रूप में ही और पूँजी कमा सकता है।

मार्क्सवाद का कहना है कि पूँजीवाद समाज में मनुष्य की परिश्रम की शक्ति का भी विनिमय या विक्री होती है। मनुष्य की परिश्रम की शक्ति क्या है? इस विषय में मार्क्स लिखता है:—
“परिश्रम की शक्ति या परिश्रम कर सकने की योग्यता का अर्थ है, मनुष्य के वे सब शारीरिक और मानसिक गुण जिनका व्यवहार किसी उपयोगी पदार्थ को तैयार करने में होता है॥” इसे दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि परिश्रम की शक्ति उपयोगी पदार्थों को उत्पन्न कर सकने की शक्ति है।

केवल अपने ही श्रम का जो फल मनुष्य को मिलता है उसे मुनाफ़ा नहीं कहा जा सकता और न इस कमाई से मनुष्य के पास बड़ी मात्रा में पूँजी जमा हो सकती है। बड़े परिमाण में मुनाफ़ा कमाने के लिये यह जरूरी है कि दूसरों के परिश्रम का भाग मुनाफ़े के रूप में ले लिया जाय। यह तभी हो सकता है जब समाज में एक श्रेणी ऐसी हो जिसके पास पैदावार के साधन न हों। अपने हाथ में पैदावार के साधन रहते कोई भी मनुष्य यह

पसन्द न करेगा कि दूसरा व्यक्ति उसकी पैदावार के फल को लेने का मौका पाये ।

हम अपने देश में देखते हैं कि जुलाहे घर पर काम करने के वजाय कपड़े की मिल में काम करना ही पसन्द करते हैं क्योंकि घर पर काम करने से यदि वे दिन में ३-४ आने मजदूरी कमा सकते हैं तो मिल में उन्हें १०-१२ आने मजदूरी मिल जाती है । लेकिन यह मजदूरी मिल मालिक अपनी जेब से नहीं देता । मशीन की सहायता से वह कहीं अधिक दाम का काम जुलाहे से करा कर उसे यह मजदूरी देता है । अपने घर पर मशीन न होने से जुलाहा शारीरिक परिश्रम अधिक करने के बावजूद कम दाम का काम कर सकता है । इस भेद का कारण है मिल मालिक या पूँजीपति के हाथ में पैदावार के अच्छे साधनों का होना जिनसे होने वाली पैदावार के सामने जुलाहे की शारीरिक शक्ति की पैदावार का दाम बहुत कम रह जाता है और वह उससे अपना निर्वाह नहीं कर सकता ।

पूँजीपति के हाथ में पूँजी होने के कारण पैदावार के साधन उसके हाथ में चले जाते हैं, हम देखते हैं पूँजी से पूँजी पैदा होती है । परन्तु अधिक पूँजी को पैदा करने के लिये आरम्भ में पूँजी कहाँ से आई होगी ? पूँजीवाद का युग, अर्थात् बड़े परिमाण में मुनाफ़े के लिये पैदावार आरम्भ होने से पहले भी मामूली परिमाण में व्यापार चलता था । यह व्यापार था उपयोग की वस्तुओं को सस्ते दाम पर खरीद कर अधिक दाम में बेचकर मुनाफ़ा कमाने का । इसी व्यापार से पूँजीवाद को जन्म देने वाली पूँजी एकत्र हुई । सस्ता खरीद कर महंगा बेचने का अर्थ होता है या तो सौदे का मुनासिब से कम दाम दिया जाय, या सौदे का मुनासिब से ज्यादा दाम लिया जाय । इस प्रकार के व्यापार में मुनाफ़े की

अधिक गुंजाइश नहीं रहती क्योंकि व्यवसाई जो कुछ खरीदता है, उसीको बेच देता है। उसके लिये मुनाफे का अधिक अवसर हो यदि वह बाजार से ऐसी वस्तु खरीदकर बेचे जो खरीदने के बाद बेचने से पहले बढ़ जाय—या इस समय में और अधिक उपयोगी पदार्थ पैदा कर सके। इस प्रकार की वस्तु है परिश्रम करने की शक्ति।

परिश्रम की शक्ति का दाम और परिश्रम का दाम

बाजार में विकने के लिये आने वाली प्रत्येक वस्तु का दाम होता है और वह दाम उस वस्तु की तैयारी में खर्च हुए परिश्रम के समय से निश्चित होता है। इस प्रकार बाजार में विकने आने वाली मजदूर की मजदूरी (उसकी परिश्रम करने की शक्ति) का दाम भी इसी दृष्टि से तय होता है। मजदूरी करने की शक्ति प्राप्त करने के लिये मजदूर या नौकर को कुछ सौदा पेट भरने और शरीर ढाँकने के लिये जरूरी होता है, जिस के बिना परिश्रम करना सम्भव नहीं। परिश्रम करने की शक्ति को कायम रखने के लिये मजदूर अपने परिवार, पत्नी, सन्तान आदि के लिये जितने समय की मेहनत की पैदावार से बनने वाला सौदा खर्चगा, उतनी ही कीमत उसकी परिश्रम की शक्ति की होगी। मेहनत की शक्ति की कीमत कोई निश्चित वस्तु नहीं है। मजदूर मेहनत की शक्ति को कायम रखने के लिये या दूसरे शब्दों में कहिये—जीवन का कायम रखने के लिये कम या अधिक सौदा खर्च कर सकता है। यदि उसे अपनी इच्छा के अनुसार सौदा खर्च करने का अवसर हो, तो वह काफ़ी खर्च कर देगा। परन्तु मजदूर को अपनी इच्छा और आवश्यकता के अनुसार खर्च करने के साधन ही नहीं मिलते। मजदूर की मेहनत की शक्ति को खरीदने वाले उसे कम से कम दाम देने की कोशिश करते हैं—अर्थात् वे

मजदूर को कम से कम सौदे का दाम निर्वाह के लिये देने का यत्न करते हैं, जितने में उसके प्राण मात्र बच सकें—और उसे अधिक से अधिक सौदा अपनी मेहनत से पैदा करने के लिये मजबूर करते हैं। मजदूर द्वारा खर्च किये गये सौदे और मजदूर द्वारा पैदा किये गये सौदे के दाम में जो अन्तर रहता है, वही पूँजीपति का मुनाफ़ा बन जाता है*।

पूँजीपति का मुनाफ़ा क्या है; इस बात को मार्क्सवाद के दृष्टिकोण से समझ लेने के लिये परिश्रम की शक्ति के मूल्य में और परिश्रम के मूल्य में अन्तर समझ लेना जरूरी है। परिश्रम की शक्ति और परिश्रम के परिणाम में भेद है, यह पहले दिखा आये हैं; यहाँ हम दोनों के दाम में भेद दिखाने का यत्न करेंगे।

परिश्रम की शक्ति का दाम हमने ऊपर दिये उदाहरण से दिखाने का यत्न किया है। संक्षेप में कहा जायगा कि मजदूर की जीवन रक्षा के लिये कम से कम जरूरी सौदे का दाम ही परिश्रम की शक्ति का दाम है†। जितने समय तक के लिये पूँजीपति मजदूर की परिश्रम की शक्ति अपने काम में लगाना चाहता है उतने समय तक उसके जीवित रहने के लिये सौदे का मूल्य वह

* इस मुनाफ़े को अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त के रूप में हम अगले प्रकरण में और भी स्पष्ट करने का यत्न करेंगे।

† मजदूर की जीवन रक्षा के लिये कम से कम कितना सौदा आवश्यक है, यह मजदूर की परिस्थितियों, बाज़ार में मजदूरों की संख्या और उनके अभ्यास आदि पर निर्भर करता है। बिहार का एक कुली दिनभर दो-तीन आने के सौदे में निर्वाह कर लेता है, एक पंजाबी कुली आठ आने के लगभग खर्च करता है और एक अमेरिकन कुली चार पाँच रुपये जरूरी समझता है।

उसे देने के लिये मजदूर है—वर्ना मजदूर जिन्दा रहकर परिश्रम नहीं कर सकता ।

मजदूर की परिश्रम की शक्ति का दाम क्या है, यह हमने देख लिया, अब देखना यह है कि परिश्रम का दाम क्या होता है ? मजदूर दिनभर परिश्रम कर कितने दाम का सौदा तैयार करता है, यह मजदूर को मालूम नहीं होता ; यह केवल पूँजीपति को ही मालूम होता है ।

एक पूँजीपति इमारत तैयार कर उसमें मशीन लगाकर पैदावार का सामान तैयार कर लेता है और जो सौदा उसे तैयार करना है उसके लिये कच्चा माल भी जमा कर लेता है । परन्तु पैदावार का काम उस समय तक आरंभ नहीं हो सकेगा जब तक कि इस सब ठाठ को चलाने के लिये परिश्रम करने की शक्ति उसमें न लगाई जाय । इसलिये पूँजीपति परिश्रम करने की शक्ति खरीदने के लिये मजदूर के शरीर को कुछ समय के लिये किराये पर लेता है और सौदा बनाने का काम शुरू हो जाता है । यदि हम हिसाब के लिये यह समझ लें कि सौदा बनाने का काम पाँच दिन तक हुआ है । इस समय में इमारत और मशीन का किराया, कच्चे माल के दाम और दूसरे कामों में जो रुपया खर्च हुआ है, वह तीन हजार घण्टे के दाम के बराबर था । पूँजीपति ने नया सौदा बनाने के काम में बीस मजदूरों को प्रतिदिन दस घण्टे काम पर लगाया और सौदा तैयार हो जाने के बाद बाजार में उसका दाम चार हजार घण्टे के परिश्रम के दाम के बराबर पड़ा । तीन हजार घण्टे के परिश्रम का दाम पूँजीपति ने खर्च किया था नया सौदा बनाने के लिये मुहय्या किये गये सामान पर और उसके नये सौदे की विक्री हुई है चार हजार घण्टे के परिश्रम के दाम पर । इस प्रकार उसकी वचत हुई है एक हजार घण्टे के परिश्रम के दाम की ।

इस एक हजार घण्टे के परिश्रम को कराने के लिये उसे मजदूरों को उतना दाम देना होगा कि वे एक हजार घण्टे तक जीवित रह कर काम कर सकें। यह एक हजार घण्टे तक परिश्रम कराने की शक्ति का दाम होगा और उसे जो बाजार से मिला है, वह है एक हजार घण्टे के परिश्रम का दाम। यदि पूँजीपति अपने व्यवसाय में काम करने वाले प्रति मजदूर को पाँच दिन तक दस घण्टे प्रति दिन परिश्रम करने की शक्ति का दाम अढ़ाई दिन के परिश्रम के बराबर दे देता है तो उसे प्रति मजदूर अढ़ाई दिन का परिश्रम मुनाफ़े में बच जाता है। उसका कुल मुनाफ़ा पचास दिन के परिश्रम का परिणाम हो जाता है। इस बात को और स्पष्ट रूप में यों कह सकते हैं कि पूँजीपति ने अपने बीस मजदूरों को उतना रुपया दिया जिससे वे पाँच दिन तक जीवित रह सकें और मजदूरों ने मालिक को उतना रुपया दिया जितना कि बीस आदमियों की पाँच दिन की मेहनत से पैदा हो सकता है।

बाजार में परिश्रम की शक्ति का दाम परिश्रम के परिमाण से बहुत कम होता है, इसे टाँगे में जोते जाने वाले घोड़े के उदाहरण से समझा जा सकता है। एक घोड़े को दिन भर परिश्रम करने योग्य बनाये रखने के लिये जो खर्च किया जाता है, वह उसकी परिश्रम की शक्ति का दाम होता है और घोड़े के दिन भर के परिश्रम से जो कमाई होती है, वह उसके परिश्रम का दाम होता है। इन दोनों दामों में जो अन्तर है वह किसी से छिपा नहीं। घोड़े को खूब तन्दुरुस्त रखने के लिये, उसकी परिश्रम की शक्ति को ठीक बनाये रखने के लिये जो खर्च होगा वह उसके परिश्रम के दाम से कहीं कम होगा। इसी प्रकार मनुष्य की परिश्रम की शक्ति बनाये रखने के लिये जो दाम खर्च आता है, वह मनुष्य द्वारा किये गये परिश्रम के दाम से बहुत कम होता है। यदि मजदूर को

उसके 'परिश्रम की शक्ति' का पूरा दाम भी मिल जाय तो भी वह मजदूर द्वारा किये गये 'परिश्रम के दाम' से बहुत कम होगा। लेकिन बाजार में बेकार मजदूरों की बहुत बड़ी तादाद होने से मजदूरों को नित्य अपनी आवश्यकतायें कम करके भी, आधा पेट खाकर अर्थात् अपने परिश्रम की शक्ति का दाम मुनासिव से बहुत कम लेकर भी मजदूरी करने के लिये राजी होना पड़ता है। मजदूरों को जितना ही कम भाग सौदे की पैदावार में से मिलता है मालिक का मुनाफा उतना ही अधिक बढ़ता जाता है।

अतिरिक्त श्रम और अतिरिक्त दाम ❧

सौदे के दाम का आधार क्या है, परिश्रम की शक्ति का दाम, और परिश्रम का दाम इन सब विषयों को मार्क्सवाद के दृष्टिकोण से समझ लेने के बाद मुनाफा क्या है; इस प्रश्न का उत्तर मार्क्सवाद के दृष्टिकोण से हमारे सामने स्पष्ट हो जाता है। उत्तर यह है :—मजदूर की मेहनत के फल का वह भाग जिसका दाम मजदूर को नहीं मिलता मालिक का मुनाफा है। मजदूर जितने समय तक मेहनत कर परिश्रम की शक्ति का दाम पैदा करता है उससे जितना भी अधिक वह काम करेगा वह सब मालिक का मुनाफा होगा। यदि मजदूर पाँच घण्टे का काम करके अपने परिश्रम की शक्ति का दाम पूरा कर देता है तो दिन भर की मेहनत के शेष घण्टे मालिक के मुनाफे में जाते हैं। मजदूर द्वारा की गई पूरी मेहनत के परिणाम में से मजदूर की परिश्रम की शक्ति का जितना दाम उसे मिलता है, उसे निकाल देने के बाद जो कुछ बच जाता है वह 'अतिरिक्त श्रम' है। अपनी परिश्रम की शक्ति को कायम रखने के लिये मजदूर को जितना परिश्रम करना जरूरी है, उससे जितना अधिक मजदूर को करना पड़ता है वह

गैर जरूरी, फालतू या अतिरिक्त श्रम है और उसका दाम भी अतिरिक्त दाम है। यह 'अतिरिक्त श्रम' और 'अतिरिक्त मूल्य' ही मालिक का मुनाफा है।

'अतिरिक्त मूल्य' का सिद्धान्त ही मार्क्स के आर्थिक सिद्धान्तों की आधार शिला है। इस सिद्धान्त द्वारा ही साधनहीन, किसान, मजदूर और नौकरी पेशा लोगों की श्रेणी अपने निरन्तर शोषण के रहस्य को समझकर उससे मुक्ति प्राप्त करने का आन्दोलन चला रही है और अपनी मेहनत के इस अतिरिक्त श्रम और दाम को स्वयम् खर्च करने का अधिकार पाकर ही साधनहीन श्रेणी समाजवाद और समष्टिवाद में मनुष्य-समाज को सुख शान्ति की ऐसी अवस्था में पहुँचा देने का निश्चय कर सकती है जैसी कि मनुष्य समाज के इतिहास में अब तक कभी नहीं आई। इस अवस्था में समाज की व्यवस्था का नियम होगा कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति भर परिश्रम करे और अपनी आवश्यकता के अनुसार पदार्थों को प्राप्त कर सके। समाज में शोषण का अन्त हो जाय, किसी को उसकी इच्छा के विरुद्ध जीवन निवाह के लिये विवश न होना पड़े और उसके लिये नियंत्रण की जरूरत न पड़े। न शासन रहे और न शासन को चलाने वाली सरकार।

मार्क्सवाद को क्रियात्मक रूप देने वाली रूस की समाजवादी क्रान्ति का नेता लेनिन अतिरिक्त दाम* के विषय में लिखता है :—

“सौदे के विनिमय से अतिरिक्त दाम (मुनाफा या पूँजी) प्राप्त नहीं हो सकता क्योंकि सौदे के विनिमय का अर्थ है, समान लागत के सौदों को एक दूसरे से बदलना। सौदे का दाम बढ़ने

* अतिरिक्त दाम का शब्दार्थ होगा—जागत दाम से अधिक दाम।

या घटने से भी अतिरिक्त दाम (पूँजी) पैदा नहीं हो सकता क्योंकि उसका अर्थ होगा केवल समाज के कुछ आदमियों के हाथ से दाम का निकल कर दूसरों के हाथ में चले जाना । समाज में जो आज बेचने वाला है वह कल खरीदने वाला और खरीदने वाला बेचने वाला बन जाता है । अतिरिक्त दाम प्राप्त करने के लिये पूँजीपति को बाजार में ऐसे सौदे की खोज करनी पड़ती है जिसे व्यवहार में लाकर उस पर खर्च किये गये दाम से अधिक दाम प्राप्त किया जा सके । एक ऐसा सौदा जिसे खर्च करने से और अधिक दाम पैदा हो सके । बाजार में ऐसा सौदा मनुष्य की परिश्रम करने की शक्ति है । मनुष्य की परिश्रम की शक्ति का उपयोग है परिश्रम ! और परिश्रम का फल है दाम ! पूँजीपति मनुष्य की मेहनत की शक्ति को बाजार दाम पर खरीद लेता है । दूसरे सब सौदों की ही तरह मनुष्य की परिश्रम करने की शक्ति का दाम भी इसे पैदा करने के लिये 'आवश्यक-सामाजिक-श्रम' से निश्चित होता है ७ । मनुष्य की मेहनत करने की शक्ति को दस घण्टे के लिये खरीद कर पूँजीपति उसे काम पर लगा देता है । पाँच घण्टे परिश्रम करके ही मजदूर उतने दाम का सौदा पैदा कर देता है जितना कि उसे दस घण्टे काम करने के वाद मिलता है । शेष पाँच घण्टे और काम कर मजदूर अतिरिक्त सौदा या अतिरिक्त दाम पैदा करता है जो पूँजीपति की जेब में जाता है । १०

मार्क्सवाद की दृष्टि से अतिरिक्त श्रम या अतिरिक्त दाम ले सकना ही शोषण की शक्ति और अधिकार है । समाज में जब कभी और जहाँ कहीं शोषण होगा इसी शक्ति और अधिकार के बल पर होगा ।

७ मजदूर और उसके परिवार के लिये अत्यन्त आवश्यक सौदे के लिये जितने समय तक परिश्रम करना आवश्यक है ।

मनुष्य की आदिम अवस्था में जब कि मनुष्य के पैदावार के साधन इतने कमजोर थे कि दिनभर के कठिन परिश्रम के बाद वह मुश्किल से अपने जीवन निर्वाह के लिये पर्याप्त पदार्थ प्राप्त कर सकता था, उस समय मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण की गुंजाइश ही नहीं थी। ज्यों ज्यों पैदावार के साधनों में उन्नति होने लगी, मनुष्य पैदावार आसानी से करने लगा और जितना उसके जीवन निर्वाह के लिये नितान्त आवश्यक था, उससे अधिक पैदा करने लगा—अर्थात् परिश्रम की शक्ति को क्रायम रखने के लिये जितना बिलकुल ही जरूरी था। उससे अधिक पैदा करने लगा तो यह पैदावार जमा होने लगी। इस जमा हुई पैदावार ने धन का रूप लिया, जो पैदावार का सब से बड़ा साधन है। ऐसा विकास होने के बाद कुछ आदमियों के परिश्रम का अतिरिक्त भाग दूसरों के पास जाने लगा और वे अधिक साधन-सम्पन्न और बलवान् श्रेणी बन गये।

कला कौशल और उद्योग धन्दों का विकास समाज में होने से पहले जब दास प्रथा (गुलामी का रिवाज) थी तब भी दासों का शोषण अतिरिक्त श्रम के रूप में ही होता था। गुलाम को केवल उतना भोजन और वस्त्र दिया जाता था, जितना कि उसके शरीर में परिश्रम करने की शक्ति को क्रायम रखने के लिये जरूरी था और गुलाम द्वारा कराये गये परिश्रम के सम्पूर्ण फल को मालिक लोग भोगते थे। यही बात सामन्तशाही और जागीरदारी के जमाने में भी थी। सामन्तों और जागीरदारों की प्रजा कठिन परिश्रम से जो पैदावार और उपज भूमि या भूमि की पैदावार से सम्बन्ध रखने वाले दूसरे कामों से करती थी, उसमें से इन लोगों के शरीर में परिश्रम की शक्ति बनाये रखने के लिये अत्यन्त आवश्यक भाग को छोड़कर शेष भाग (अतिरिक्त श्रम या अति-

रिक्त दाम) कर, लगान और नजराना आदि के रूप में मालिक के पास चला जाता था। पूँजीवाद के युग से पूर्व मेहनत करने वाली श्रेणी का शोषण होता था मालिकों के उपयोग और भोग के लिये। उस समय धन का उपयोग उसे व्यवहार में लाना ही था। इसलिये शोषण भी उतना ही किया जाता था जितने धन से मालिकों की आवश्यकतायें पूरी हो जाती थीं। मालिक लोग शोषण द्वारा प्राप्त धन को अपने व्यवहार में खर्च कर देते थे जिससे वह धन दूसरी श्रेणियों के पास पहुँचकर फिर बाजार में पहुँच जाता था और दूसरों के उपयोग में आता रहता था परन्तु पूँजीवाद के युग में धन को पूँजी का रूप देकर उसका उपयोग खर्च के लिये नहीं किया जाता बल्कि और अधिक धन पैदा करने के उपयोग के लिये किया जाता है। उससे पैदावार के साधन बढ़ाये जाते हैं और पूँजीपतियों के लिये मुनाफे का क्षेत्र बढ़ाया जाता है। जितना मुनाफा पूँजीपति कमाते हैं उसका केवल एक बहुत छोटा भाग पूँजापतियों के खर्च में आता है शेष पूँजी बनकर और मुनाफा कमाने का साधन बनता जाता है। जितना अधिक मुनाफा होता है, उससे और अधिक मुनाफा कमाने का यत्न किया जाता है। इस प्रकार पूँजीपति मालिकों के लिये मुनाफे से संतुष्ट होने की सीमा नहीं रहती और मेहनत करने वालों के शोषण की भी कोई सीमा नहीं रहती।

पूँजी

पूँजीवादी समाज में पैदावार का काम पूँजी के आधार पर होता है। पूँजीपति के अधिकार में पैदावार के जितने साधन हैं वे सब उसकी पूँजी हैं। इस पूँजी से ही पैदावार होती है। पूँजीवाद का समर्थन करनेवाले कहते हैं यदि पूँजीवादी प्रणाली को समाज से दूर कर दिया जायगा और पूँजी नहीं रहेगी या मुनाफा

कमाने की प्रणाली नहीं रहेगी तो समाज में पैदावार बढ़ाने के लिये साधनों को किस प्रकार बढ़ाया जायगा ? मार्क्सवाद के दृष्टिकोण से इस प्रश्न का उत्तर हमें तभी मिल सकता है जब हम मार्क्सवादी दृष्टिकोण से यह समझ लें कि पूँजी क्या है ? मार्क्सवाद के दृष्टिकोण से पूँजी वह धन या पैदावार के वे साधन हैं जिनसे मुनाफ़ा कमाया जाता है। पैदावार के वे साधन पूँजी नहीं हैं, जिनसे उपयोग के पदार्थ तैयार किये जाते हैं। जो भेद पदार्थ और सौदे में है, वही भेद पैदावार के साधनों और पूँजी में है। गेहूँ की बोरी यदि परिवार के व्यवहार के उपयोग के लिये है तो वह उपयोग का पदार्थ है और यदि वह विक्री के लिये है तो वह सौदा है। कोई भी वस्तु सौदा है या पदार्थ, यह इस बात पर निर्भर करता है कि वह वस्तु किस प्रयोजन से उपयोग में आयेगी ? इसी प्रकार पैदावार के साधनों के बारे में भी उनका प्रयोजन यह निश्चय करता है कि वह जरूरत पूरी करने का साधन है या मुनाफ़ा कमाने का साधन। किसी मशीन से यदि उपयोग के पदार्थ तैयार किये जाते हैं तो वह पैदावार का साधन तो अवश्य है परन्तु मुनाफ़ा कमाने का साधन नहीं है, इसलिये मार्क्सवादी उसे पूँजी नहीं कह सकेगा। परन्तु यदि उस मशीन पर दूसरे लोगों से मेहनत कराकर मुनाफ़ा कमाया जायगा तो वह मुनाफ़ा कमाने का साधन बन जाने से पूँजी बन जायगी। एक और उदाहरण, शहर में पानी पहुँचाने की कल (Water works) पर जो खर्च आता है यदि केवल उतना खर्च ही कल का पानी व्यवहार करने वालों से ले लिया जाय, उससे किसी किस्म का मुनाफ़ा न लिया जाय तो पानी की इस कल को पूँजी न कहा जायगा। इसी प्रकार नदी पर जनता के व्यवहार के लिये बनाये गये पुल में लगे दस लाख रुपये को पूँजी न कहा जायगा।

वह पुल यदि किसी ठेकेदार ने बनाया है और पुल का व्यवहार करने वालों से वह पैसा वसूल करता है तो वह पुल पूँजी हो जायगा ।

समाजवादी समाज में भी बड़ी बड़ी मिलें रहेंगी और बड़ी मात्रा में धन पैदावार के और नये साधन जारी करने के लिये इकट्ठा किया जायगा परन्तु उसका उद्देश्य व्यक्तियों या श्रेणी के लिये मुनाफ़ा कमाना न होकर जनता के उपयोग के लिये ही उपयोगी पदार्थ और साधन पैदा करना होगा । इसलिये उसे पूँजीवादी प्रणाली में मुनाफ़ा कमाने के साधन पूँजी के रूप में पूँजी न कहा जा सकेगा ; वह होगा केवल समाज की आवश्यकताओं को पूरा करने का साधन—धन ।

अतिरिक्त-श्रम का दर

अतिरिक्त श्रम पर विचार करते समय हम इस परिणाम पर पहुँचे थे कि पूँजीपति के मुनाफ़े का स्रोत अतिरिक्त श्रम ही है । यदि हम यह देखना चाहें कि अतिरिक्त श्रम या अतिरिक्त दाम (मालिक का मुनाफ़ा) किस हिसाब से बढ़ता बढ़ता है तो एक दफे हमें फिर पैदावार के साधनों के रूप में लगने वाली पूँजी पर विचार करना होगा ।

पूँजी या पैदावार के साधनों को हम इस प्रकार बाँट सकते हैं—एक वे साधन जो एक हद तक स्थायी हैं, उदाहरणतः इमारतें और मशीनें, दूसरे कच्चा माल, तीसरे मजदूर को मजदूरी देने के लिये पूँजी । पूँजी का जो भाग पैदावार के स्थायी साधनों पर खर्च होता है वह एक निश्चित समय में पन्द्रह या बीस बरस में वसूल हो सकता है । इन साधनों के दाम पर सूट और घिसाई पूँजीपति आमदनी में से लगातार निकालता जाता है । कच्चे माल पर जो पूँजी खर्च आती है वह भी तैयार किये गये सौदे के

बिकते ही वसूल हो जाती है । पैदावार के इन साधनों पर जो रुपया लगता है, पूँजीपति उसे सौदे के मूल्य से वसूल कर लेता है परन्तु उस पर मुनाफ़ा वसूल नहीं किया जा सकता, वह घटता बढ़ता नहीं । परिश्रम की शक्ति इन साधनों पर लगाये बिना कुछ लाभ नहीं हो सकता । पैदावार में लगाये गये पूँजीपति के धन का तीसरा भाग परिश्रम की शक्ति के ख़रीदने में लगता है । पूँजीपति का मुनाफ़ा उसकी पूँजी के इसी भाग से आता है ।

परिश्रम करने की शक्ति जिस दाम पर ख़रीदी जाती है, परिश्रम के फल का दाम उससे अधिक होता है । सौदे के दाम में से परिश्रम की शक्ति का दाम निकाल देने पर 'अतिरिक्त—दाम' बच जाता है । अतिरिक्त दाम बढ़ाने का सीधा तरीका यह है कि परिश्रम की शक्ति के दाम (मजदूरी) को घटाया जाय । उदाहरणतः यदि मजदूर द्वारा कराये गये दस घण्टे परिश्रम का दाम एक रुपया है और उसमें से मजदूर को उसकी परिश्रम की शक्ति का मूल्य आठ आने दे दिया जाता है तो अतिरिक्त मूल्य आठ आने प्रति मजदूर बच जाता है । परिश्रम के मूल्य—एक रुपये—में से यदि मजदूरी घटा दी जाय तो अतिरिक्त मूल्य का मुनाफ़ा बढ़ जायगा । दूसरा उपाय मशीनों का प्रयोग बढ़ाकर पैदावार बढ़ाना है । जिसमें परिश्रम की शक्ति के कम खर्च होने से उसके लिये कम दाम देना पड़े और मालिक के पास अतिरिक्त दाम या मुनाफ़ा अधिक बच जाय । तीसरा उपाय अतिरिक्त श्रम को बढ़ाने का यह है कि परिश्रम की शक्ति का मूल्य तो न बढ़े परन्तु परिश्रम अधिक दाम का (अधिक समय तक) कराया जाय ताकि अतिरिक्त मूल्य का भाग बढ़ जाय । इसके लिये मजदूरों से बजाय दस घण्टे के बारह घण्टे काम कराया जाय । दस घण्टे काम कराने से पाँच घण्टे में तो मजदूर अपने परिश्रम की शक्ति का दाम पैदा

करता है जो कि उसे मालिक से मिलना है और पाँच घण्टे में मालिक के लिये अतिरिक्त दाम । अब काम चारह घण्टे कराये जाने पर और परिश्रम की शक्ति का दाम (मजदूरी) न बढ़ाने पर अतिरिक्त श्रम बजाय पाँच घण्टे के सात घण्टे होने लगेगा । इसी-लिये जब मशीनों द्वारा थोड़े समय में अधिक काम हो सकता है तब भी मालिक लोग काम के घण्टे घटाने के लिये तैयार नहीं होते ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मुनाफ़ा कमाने की पूँजीवादी प्रणाली में मशीनों का प्रयोग बढ़ने, पैदावार बढ़ने आदि सभी प्रकार की उन्नति से मजदूरों को नुकसान और पूँजीपतियों को लाभ होता है क्योंकि इन सब वस्तुओं का व्यवहार समाज की आवश्यकताओं को पूरा न कर मुनाफ़ा कमाने के उद्देश्य से किया जाता है ।

मजदूरी या वेतन

यह हम ऊपर कह आये हैं कि पैदावार के सब साधनों के मौजूद होते हुए भी पैदावार उस समय तक नहीं हो सकती जब तक कि मेहनत की शक्ति को व्यवहार में न लाया जाय । पूँजीवादी समाज में मेहनत की शक्ति आती है मजदूरों से । मजदूरों की मेहनत की शक्ति को मजदूरी या वेतन द्वारा खरीद कर पैदावार के साधनों को चलाया जाता है । मजदूरी पूँजीवादी समाज का विशेष महत्वपूर्ण अंग है क्योंकि मजदूरी द्वारा ही मेहनत की शक्ति और पैदावार के साधनों का मेल होता है और मजदूरी द्वारा ही पूँजीपति मजदूर की मेहनत से मुनाफ़ा उठाता है ।

यह हम देख आये हैं कि अपने लाभ के विचार से पूँजीपति मजदूरों की मजदूरी अर्थात् परिश्रम करने की शक्ति का दाम सदा ही घटाने की कोशिश करते रहते हैं । परिश्रम की शक्ति के

मूल्य और परिश्रम के मूल्य पर विचार करते समय हम यह भी देख आये हैं कि पूँजीपति के व्यवसाय में परिश्रम करने वाले मजदूर के परिश्रम के दो भाग होते हैं। मजदूर के परिश्रम का एक वह भाग होता है जो उसकी परिश्रम की शक्ति के मूल्य में उसे दे दिया जाता है और उसके परिश्रम का दूसरा भाग वह होता है, जिसका उसे कोई फल नहीं मिलता—अर्थात् अतिरिक्त श्रम। मजदूर इस रहस्य को नहीं जानता। उसे यही समझाया जाता है कि जितने दाम का परिश्रम उसने किया है, उतना दाम उसे मिल गया है। मजदूर को कहा जाता है कि तुम्हारे परिश्रम का जो दाम एक पूँजीपति तुम्हें देता है उसे यदि तुम कम समझते हो तो दूसरी जगह मजदूरी तलाश कर सकते हो। मजदूरी का दर समाज भर में एक ही रहता है क्योंकि सभी पूँजीपति अतिरिक्त श्रम से लाभ उठाना चाहते हैं।

यदि मजदूर को मजदूरी उसी पदार्थ के रूप में दी जाय जिसे वह अपने परिश्रम से तैयार करता है तो उसे इस बात का अनुमान हो सकता है कि उसके परिश्रम के फल का कितना भाग उसे मिलता है और कितना भाग मालिक की जेब में चला जाता है। परन्तु मजदूरी या वेतन का पर्दा मजदूर से उसके शोषण की वास्तविकता को छिपाये रहता है।

पूँजीवादी समाज में मेहनत करने वाली साधनहीन श्रेणी पैदावार तो बहुत अधिक करती है परन्तु खर्च करने के लिये बहुत कम पाती है। पैदावार की शक्ति और साधन तो खूब बढ़ते जाते हैं परन्तु जनता की पैदावार को, खर्च करने की शक्ति घटती जाती है। इन सबका कारण है अतिरिक्त मूल्य के रहस्यमय मार्ग द्वारा जनता के परिश्रम का मुनाफ़े के रूप में पूँजीपति श्रेणी के खजानों में जमा होते जाना। इस व्यवस्था से मेहनत करने वाली साधनहीन

श्रेणी तो संकट भोगती ही है, परन्तु पूँजीपति श्रेणी को भी कम उलझन का सामना नहीं करना पड़ता। समाज में हो सकने वाली पैदावार को जनता खपा नहीं सकती। पूँजीपतियों के पैदावार के विशाल साधन निश्रयोजन खड़े रहते हैं। उन साधनों में लगी उनकी पूँजी उन्हें कोई लाभ नहीं पहुँचा सकती और वे भयंकर आर्थिक संकट अनुभव करने लगते हैं।

यद्यपि पूँजीवादी व्यवस्था में मेहनत करने वाली श्रेणी का शोषण उन्हें दी जाने वाली मजदूरी के पदे में छिपा रहता है, जिसके द्वारा उन्हें सदा यह विश्वास दिलाया जाता है कि उनकी मेहनत का पूरा फल मेहनत करने वालों को मिल जाता है, परन्तु मजदूरों को उनकी मेहनत मिलने वाले फल में नित्य कमी आते जाने से उनका जीवन दिन प्रति दिन संकटमय होता जाता है। इसलिये मजदूर श्रेणी अपनी मजदूरी को बढ़ाने की पुकार उठाये बिना नहीं रह सकती।

पूँजीवाद में अन्तर विरोध

अपनी गिरती हुई अवस्था में सुधार लाने के लिये मजदूरों द्वारा संगठित होने का यत्न, पूँजीवादी व्यवस्था के आते हुए अन्त का चिन्ह है।

मार्क्सवाद का कहना है कि समाज की कोई भी व्यवस्था जब पूर्ण विकास को प्राप्त हो चुकती है और उस व्यवस्था में समाज के लिये आगे विकास करने का अवसर नहीं रहता तो उस व्यवस्था को तोड़ने के लिये स्वयं ही विरोधी शक्ति पैदा हो जाती है, जो समाज की उस व्यवस्था को तोड़कर नयी व्यवस्था का मार्ग तैयार कर देती है।

मार्क्सवाद के विचार से पूँजीवाद ऐसी अवस्था में पहुँच चुका है कि उसकी व्यवस्था को बदले बिना समाज का विकास आगे

नहीं हो सकता, समाज की पैदावार की शक्तियाँ आगे उन्नति नहीं कर सकतीं। ऐतिहासिक नियम के अनुसार पूँजीवादी समाज ने अपनी व्यवस्था का अन्त कर देने के लिये शक्ति को जन्म दे दिया है। यह शक्ति है, पूँजीवाद के शोषण द्वारा उत्पन्न साधनहीन श्रेणी।

इस साधनहीन श्रेणी की संख्या समाज में प्रति हजार ६६८ से भी अधिक है। पैदावार का केन्द्रीकरण कर पूँजीवाद ने इस साधनहीन श्रेणी को औद्योगिक नगरों में जमा कर संगठित होने का अवसर दिया है। पूँजीवाद ने मशीनों के विकास में सहायता देकर और मशीनों का उपयोग बढ़ाकर समाज द्वारा की जानेवाली पैदावार में मेहनत करनेवाली श्रेणी का भाग घटाकर उसे भूखा और नंगा छोड़कर उन्हें अपने जीवन की रक्षा के लिये लड़ने के लिये विवश कर दिया है। इस श्रेणी की जीवन रक्षा तभी हो सकेगी जब यह श्रेणी जीवन रक्षा के साधनों को अपने हाथ में ले लेगी। जीवन रक्षा के साधनों को प्राप्त करने की राह पर इस श्रेणी का पहला संगठित प्रयत्न इस बात के लिये है कि समाज में यह जितनी पैदावार करती है उसमें से कम से कम निर्वाह योग्य पदार्थ तो उसे मजदूरी के रूप में मिल जाय।

साधनहीन श्रेणी अपनी परिस्थितियों के कारण मुख्यतः तीन भागों में बँटी हुई है, जिन्हें किसान, मजदूर और निम्न मध्यम श्रेणी के नौकरी पेशा लोग कहा जा सकता है। साधनहीन श्रेणी के इन तीनों भागों में से औद्योगिक देशों में मजदूर लोग संख्या में सबसे अधिक हैं। संख्या में सबसे अधिक होने के अलावा उनका घरबार आदि कुछ भी शेष न रहने से समाज की मौजूदा व्यवस्था से उन्हें कुछ मोह नहीं। इनकी अवस्था में परिवर्तन

आने से इन्हें किसी प्रकार की हानि का डर नहीं। औद्योगिक केन्द्रों में मजदूरों के बहुत बड़ी संख्या में एकत्र हो जाने से उनमें संगठित रूप से एक साथ काम करने का भाव भी पैदा हो जाता है और नगरों में रहने के कारण राजनैतिक परिस्थितियों को भी वे बहुत शीघ्र अनुभव करने लगते हैं। पूँजीवाद के विरुद्ध आने वाली साधनहीन श्रेणी कि क्रान्ति में यह मजदूर लोग ही अगुआ होंगे। किसान भी यद्यपि मजदूर की तरह ही साधनहीन है परन्तु उसकी परिस्थिति उसके सचेत और संगठित होने के मार्ग में रुकावट डालती है। किसान प्रायः भूमि के एक छोटे से टुकड़े से बंधा रहता है जिस पर मेहनत करके वह जो पैदा करता है उसका केवल वही भाग उसके पास रह जाता है जिसके बिना किसान में परिश्रम की शक्ति कायम नहीं रह सकती, शेष चला जाता है भूमि की मालिक कहलाने वाली श्रेणी के लिये। किसान का शोषण भी मजदूर की ही भाँति होता है और वह भी वास्तव में मजदूर ही है जो मित्तों में काम न कर भूमि के टुकड़े पर मेहनत करता है और अपने आपको साधनहीन न समझ कर एक प्रकार से भूमि के छोटे से टुकड़े का मालिक समझता है। भूमि के इस टुकड़े के मोह के कारण उसे क्रान्ति से भय लगता है। किसानों के काम करने का तरीका ऐसा है कि अलग अलग काम करने से उनमें संगठन का भाव भी जल्दी पैदा नहीं हो पाता। नगरों से दूर रहने के कारण बदलती हुई परिस्थितियों को वह बहुत देर में समझ पाते हैं। सामाजिक क्रान्ति द्वारा भूमि को समाज की सम्पत्ति बनाये बिना उनका निर्वाह नहीं, उसे इससे लाभ ही होगा परन्तु वह इस क्रान्ति में आगे न आकर क्रान्तिकारी मजदूरों का सहायक ही बन सकता है। बहुत सम्भव है अपने अज्ञान के कारण वह क्रान्ति का विरोध भी करने लगे परन्तु

उसके हित को ध्यान में रखकर सामाजिक क्रान्ति के मार्ग पर उसे चलाना मजदूर श्रेणी का काम है ।

निम्न श्रेणी के साधनहीन नौकरी पेशा लोगों की अवस्था इस आन्दोलन में विशेष महत्व की है । यह लोग यद्यपि शिक्षा की दृष्टि से साधनहीन श्रेणी के नेता होने लायक हैं परन्तु अपने संस्कारों के कारण यह अपने आपको मजदूर श्रेणी से ऊँचा और पृथक् समझते हैं । यह लोग अपनी शक्ति को श्रेणी के रूप में संगठित करने में न लगाकर अपनी वैयक्तिक उन्नति द्वारा अपने आपको ऊँचा उठाने का यत्न करते हैं । यह लोग पूँजीपतियों द्वारा साधनहीन श्रेणी किसान-मजदूरों के शोषण में पूँजीपतियों के एजेंट का काम करते हैं और अपना हित पूँजीपतियों का शासन कायम रखने में ही समझते हैं । इस श्रेणी के क्रान्ति विरोधी और प्रतिक्रियावादी होने का कारण इस श्रेणी का यह विश्वास है कि साधनहीन श्रेणी का शासन हो जाने पर इन्हें भी मजदूर बन जाना पड़ेगा, इनके जीवन निर्वाह का दरजा गिर जायगा । यह लोग समझते हैं कि समाजवाद में सभी लोग गरीब हो जाँयेंगे परन्तु मार्क्सवाद का विचार इससे ठीक उलटा है । मार्क्सवाद का कहना है कि पूँजीवाद में पूँजीपतियों के मुनाफ़ा कमा सकने और समाज को उपयोग के पदार्थ मिल सकने के उद्देश्यों में अन्तर-विरोध होने के कारण समाज में पैदावार के साधनों को उनकी पूर्ण सामर्थ्य तक काम में नहीं लाया जाता । समाजवाद में इस प्रकार का विरोध न रहने से पैदावार के साधनों पर रुकावट न रहेगी और समाज में इतनी पैदावार हो सकेगी कि साधारण परिश्रम से ही सब लोगों की अपनी आवश्यकतायें पूर्ण करने का अवसर रहेगा और ६६% प्रतिशत जनता की अवस्था समाजवाद में पूँजीवाद की अपेक्षा बहुत बेहतर हो जायगी । निम्न-मध्यम-श्रेणी

के वे भाग जो सचेत होकर इस बात को समझ जाते हैं कि पूँजीवादी व्यवस्था में अपने परिश्रम का फल उचित रूप से न पा सकने के कारण वे दिन प्रति दिन मजदूर श्रेणी में मिलते जा रहे हैं और साधनहीन होने के नाते उनके हित मजदूरों तथा दूसरे साधनहीनों के ही समान हैं, वे साधनहीन श्रेणी के आन्दोलन में आगे बढ़कर अगुआ का काम करते हैं ।

साधनहीन श्रेणियों के आन्दोलनों की गति के बारे में मार्क्स ने लिखा है:—

“...साधनहीन मजदूर श्रेणी को मजदूरी और वेतन की गुलामी में फँसाकर उसका भयंकर शोषण हो रहा है और वह जीवन के कुछ अधिकार पा सकने के लिये छटपटा रही है। परन्तु इस श्रेणी को इन छोटे मोटे सुधारों के मोह में नहीं फँसना चाहिये। उन्हें याद रखना चाहिये कि इस आन्दोलन द्वारा वे केवल पूँजीवाद के परिणामों को ही दूर करने का यत्न कर रहे हैं। वे पूँजीवाद को, जो उनकी मुसीबतों का कारण है, दूर करने का यत्न नहीं कर रहे। वे अपनी गिरती हुई अवस्था में केवल रोक लगाने का यत्न कर रहे हैं, अपनी अवस्था को उन्नति की ओर ले जाने का यत्न नहीं कर रहे। वे समाज की इमारत को नये सिरे से बनाने का यत्न न कर गिरती हुई इमारत में टेक देने का यत्न कर रहे हैं.....मुनासिव काम के लिये मुनासिव मजदूरी की जगह अब उन्हें अपना यह नारा बुलन्द करना चाहिये.....मजदूरी और पूँजीवादी व्यवस्था का खात्मा हो।

मार्क्सवाद इतिहास के जिस क्रम और विचारधारा में विश्वास करता है उसके अनुसार पूँजीवादी प्रणाली में सुधार और लीपापोती की गुँजाइश बाकी नहीं। वह अपना उद्देश्य समझता है एक नवीन समाज का निर्माण।

पूँजीवाद में कृषि

उद्योग धन्दों के पूँजीवादी ढँग पर संगठित हो जाने से पहले भी खेती और खेती से सम्बन्ध रखनेवाले कारोबार-पशुपालन, फलों को उत्पन्न करना आदि जारी थे और आज तक वे सब काम कहीं उसी रूप में और कहीं परिवर्तित रूप में चले जा रहे हैं।

पूँजीवाद का पहला प्रभाव खेती पर यह पड़ा कि उद्योग धन्दों के कारखानों के रूप में जारी होने के कारण उनका खेती से कोई सम्बन्ध न रह गया। पूँजीवादी व्यवस्था का आरम्भ होने से पहले प्रायः उद्योग धन्दे और खेती का काम एक साथ ही होता था। किसान या तो खेती के काम से बचे हुए समय में कपड़ा जूता और उपयोग के दूसरे सामान तैयार कर लेता था या किसान के परिवार का कोई एक आदमी परिवार भर के लिये इन पदार्थों को तैयार कर लेता था। परन्तु कारखानों में यह पदार्थ अधिक सस्ते और अच्छे तैयार हो सकने के कारण किसानों का इन पदार्थों का स्वयम् तैयार करना लाभदायक न रहा। उद्योग धन्दे सिमट कर शहरों में चले गये और गाँवों में केवल खेती का ही काम रह गया।

समाज में पूँजीवादी व्यवस्था आरम्भ हो जाने का प्रभाव खेती पर भी काफ़ी पड़ा। पूँजीवाद ने कला कौशल की उन्नति कर और मजदूरों की माँग पैदा कर खेती की पुरानी जागीरदारी व्यवस्था में काफ़ी परिवर्तन किया। पहले तो इसका प्रभाव यह हुआ कि जागीरों से किसान लोग दौड़कर औद्योगिक नगरों की ओर आने लगे और जागीरें टूटने लगीं परन्तु जब पूँजीपतियों के पास पूँजी की बड़ी मात्रा इकट्ठी होगई तो इसका प्रभाव यह हुआ कि पूँजी-पतियों ने जागीरें बनाना शुरू किया। खासकर बड़े बड़े फार्मों के

रूप में जागीरें, जिनमें खेती किसानों की बड़ी संख्या द्वारा न हो कर मशीनों द्वारा होने लगी ।

उद्योग धन्धों की पैदावार में पूँजीवादी व्यवस्था के आरम्भ हो जाने से उद्योग धन्धों के केन्द्र और खेती की जगह-गाँवों-की अवस्था में बहुत बड़ा अन्तर आ गया । विज्ञान के विकास से औद्योगिक क्षेत्र में आये दिन परिवर्तन होता रहता है । मनुष्यों का स्थान मशीनें ले लेती हैं, रफ़्तार और चाल में उन्नति हो जाती है परन्तु खेती की अवस्था पर इन सब बातों का प्रभाव बहुत कम पड़ता है । समाज की आवश्यकता को उद्योग धन्धे और खेती मिलकर पूरा करते हैं । उनमें से एक के बहुत आगे बढ़ जाने और दूसरे के बहुत पीछे रह जाने से विषमता आ जाना स्वाभाविक हो जाता है । पूँजीवाद द्वारा धन के केवल एक छोटी सी श्रेणी के हाथों में एकत्र हो जाने का प्रभाव खेती करने वालों पर भी बहुत गहरा पड़ता है । कृषि के क्षेत्र में होनेवाला शोषण न केवल अधिक पुराना है बल्कि मजदूर की अपेक्षा किसान के अधिक असहाय होने के कारण वह अधिक गहरा भी है ।

खेती द्वारा आवश्यक पदार्थों की पैदावार करने के लिये सब से पहले ज़रूरत पड़ती है भूमि की । पूँजीवादी देशों में भूमि कुछ बड़े बड़े जमींदारों की सम्पत्ति होती है । यह जमींदार स्वयम् भूमि से कुछ पैदावार नहीं करते । किसानों को खेती करने के लिये भूमि देकर यह उनसे लगान वसूल कर लेते हैं । खेती के लिये कुछ भी परिश्रम न कर यह खेती की उपज का भाग इस लिये ले सकते हैं, क्योंकि यह लोग भूमि के मालिक समझे जाते हैं । भूमि जागीरदारों के अधिकार में प्रायः तीन तरह आ जाती है । मध्यकाल में जब सामन्तशाही और सरदारशाही का जोर था भूमि को राजा लोग दूसरे राजाओं से जीत करके अपने

सरदारों में उसे बाँट देते थे। जिस सरदार की जितनी शक्ति होती थी, या जितनी सहायता की आशा राजा किसी सरदार से कर सकता था उतनी ही भूमि उस सरदार को दे दी जाती थी। भारतवर्ष में जागीरें, जमींदारियाँ और ताल्लुकदारियाँ कुछ तो मुगलों, मराठों और सिखों के समय से चली आ रहीं हैं। यह जमींदार और जागीरदार हैं जिन्होंने अंग्रेजी राज आने पर मौजूदा सरकार की राजभक्ति स्वीकार कर ली। कुछ जागीरदारियाँ अंग्रेजी सरकार ने भूमि का कर किसानों से सुविधा पूर्वक वसूल करने के लिये कायम कर दीं। सरकार ने कुछ लोगों को भूमि के बड़े बड़े भाग मालगुजारी की एक निश्चित रकम पर सौंप दिये और उन्हें किसानों से लगान वसूल करने का अधिकार दे दिया। सरकार की शक्ति के बल पर यह लोग किसानों से लगान वसूल करते हैं और मालगुजारी सरकार को अदा करते हैं। लगान और मालगुजारी के बीच का अन्तर इन लोगों की आमदनी बनजाती है।

खेती की भूमि पर वसूल किये जानेवाले कर द्वारा ही भूमि के मालिक की आमदनी होती है और इसी कर द्वारा खेती के लिये मेहनत करने वाले किसान का शोषण होता है। इसलिये कर के अनेक रूपों और भेदों को समझ लेना जरूरी है।

खेती की सम्पूर्ण भूमि पर कर होता है। यह कर या लगान कहीं अधिक होता है कहीं कम। यदि हम भूमि के सबसे कम कर को 'आवश्यक कर' (Absolute rent) मान लें तो अधिक उपजाऊ या शहर के समीप की भूमि पर जो अधिक कर वसूल किया जाता है उसे 'विशेषकर' (Differential rent) कहेंगे। भूमि के प्रत्येक टुकड़े पर कुछ न कुछ कर होने का कारण यह है कि पैदावार के औद्योगिक साधनों को जिस प्रकार आवश्यकता

अनुसार बढ़ाया जा सकता है, भूमि को उस प्रकार नहीं बढ़ाया जा सकता। उन उपजाऊ या शहर से दूर की भूमि को छोड़कर उपजाऊ और शहर के नजदीक की भूमि आवश्यकतानुसार तैयार नहीं की जा सकती। इसलिये भूमि के किसी भी टुकड़े को जोतने की आवश्यकता होने पर उसपर कर देना ही पड़ेगा। जो भूमि अधिक उपजाऊ होगी या शहर के अधिक समीप होगी, जहाँ सिंचाई आसानी से हो सके ऐसी भूमि पर विशेष लगान या कर वसूल किया जाता है। इस प्रकार की अच्छी ज़मीन पर जो विशेष कर या लगान वसूल किया जाता है वह भूमि के मालिक की जेब में ही जाता है परन्तु भूमि को अच्छी बनाने या भूमि के शहर या जल के समीप होने में भूमि के मालिक को कुछ परिश्रम नहीं करना पड़ता।

सभी पूँजीवादी देशों में भूमि के दो मालिक होते हैं। प्रथम तो सरकार जो खेती के काम आने वाले भूमि के प्रत्येक टुकड़े पर कर या मालगुजारी वसूल करती है। दूसरा मालिक होता है भूमि का मालिक सम्पत्ति होने वाला व्यक्ति जो भूमि का कर सरकार को अदाकर उसे किसान से जुतवाता है और अपना लगान किसान से वसूल करता है। सरकार का कर और ज़मींदार का लगान अदा किये जाते हैं खेती की उपज से परन्तु खेती की उपज में न तो ज़मींदार और न सरकार कुछ परिश्रम करती है। परिश्रम सब करता है किसान और किसान के परिश्रम से की गई पैदावार से ज़मींदार और सरकार का भाग निकाला जाता है। यदि किसान के परिश्रम को बाँटकर देखा जाय तो उसके दो भाग हो जाते हैं। एक भाग वह जिसे वह स्वयं खर्च करता है ताकि उसके शरीर में परिश्रम की शक्ति क़ायम रह सके और दूसरा भाग वह जिसे भूमि का मालिक किसान से ले लेता है और आगे सर-

कार को कर देता है। किसान अपनी सम्पूर्ण उपज अपने लिये खर्च नहीं कर सकता। वह जितना खर्च करता है, उससे कहीं अधिक पैदा करता है। यदि किसान जितना अपने और अपने परिवार के लिये खर्च करता है उतना ही पैदा करे, तो उसे बहुत कम स्थान पर खेती करनी होगी और बहुत कम परिश्रम करना होगा। मौजूदा व्यवस्था में किसान को जितना वह खर्च करता है, उससे बहुत अधिक पैदा करना पड़ता है। मजदूर की अवस्था के साथ तुलना करने पर हम कहेंगे कि किसान को काफ़ी मात्रा में अतिरिक्त या फालतू पैदावार करनी पड़ती है जो जमीन्दार और सरकार के व्यवहार में आती है।

किसान से छीन ली जाने वाली यह अतिरिक्त पैदावार किसान को इस योग्य नहीं रहने देती कि जितने दाम की फसल वह बाजार में भेजता है उतने दाम का दूसरा सौदा बाजार से लेकर खर्च कर सके। किसान के श्रम का यह फल या धन चला जाता है भूमि के मालिकों की जेब में और वहाँ से पूँजीपतियों की जेब में। या भूमि के मालिक स्वयं ही पूँजी इकट्ठी हो जाने पर उसे पूँजीवादियों के व्यवसायों में सूद पर या पत्ती के रूप में लगा देते हैं। अतिरिक्त श्रम के रूप में किसान का यह शोषण जिसे भूमिकर या लगान कहा जाता है, किसान द्वारा की जाने वाली पैदावार में लगा एक पम्प है जो किसान के पास सिवा उसके परिश्रम की शक्ति को कायम रखने के और कुछ नहीं छोड़ता। किसान के संगठित न होने और अपने अधिकार के लिये आवाज न उठा सकने के कारण उसके पास अपने परिश्रम का उतना भाग भी नहीं रह पाता जितने से वह परिश्रम करने लायक स्वस्थ अवस्था में रह सके। यह प्रत्यक्ष बात है कि इस देश के किसान न केवल इस देश के लिये बल्कि अनेक देशों के उद्योग धन्दों के लिये कच्चा

माल पैदा करने के वायजद स्वयम थावा पेट ग्या और शरीर से प्रायः नंगा रहकर निर्याद करता है। उसकी सम्पूर्ण पैदावार अतिरिक्त श्रम या पैदावार का रूप धारण कर इस देश तथा दूसरे देशों के पूँजीपतियों की जेब में चली जाती है। प्रत्यक्ष में किसान को अतिरिक्त पैदावार उससे छीन लेने को ही भूमिकर का नाम दिया जाता है।

पूँजीवाद के विकास से भूमिकर बहुत तेजी से बढ़ता है। क्योंकि नये नये उद्योग थन्दे जागे होने से नई नई किसम की वस्तुयें पैदा करनी पड़नी है इसके लिये नई भूमि तोड़ी जाती है। जो नई भूमि तोड़ी जायगी उस पर भी कर लगेगा। पूँजीपति या भूमि का मालिक नई भूमि उसी समय तोड़ेगा जब वह पहले से उपयोग में आने वाली भूमि पर लगाने वाले लगान को अधिक समझेगा। नई भूमि तोड़ने से पहले खेती के काम में आने वाली भूमि के लगान का दर बढ़ेगा और जब बढ़ा हुआ दर देने की अपेक्षा कोई व्यक्ति नई भूमि तोड़ना ही पसन्द करेगा तभी नई भूमि तोड़ी जायगी। इस प्रकार भूमि के प्रत्येक नये भाग को तोड़ने से पहले जोती जाने वाली पुरानी और अच्छी भूमि पर लगान बढ़ता चला जायगा, इस दृढ़ तक कि किसान के पास कठिनता से निर्याद मात्र के लिये उसके परिश्रम का एक बहुत छोटा सा भाग रह जायगा।

यदि भूमि के किसी भाग को पैदावार की शक्ति सिंचाई आदि का प्रबन्ध कर बढ़ाई जाती है तो उसका लगान भी साथ ही बढ़ जाता है और पैदावार में होने वाली बढ़ती सब मालिक के पास पहुँच जाती है।

किसान के परिश्रम का बहुत बड़ा भाग अतिरिक्त श्रम या भूमि के लगान की सूरत में उससे छीन लिया जाने के कारण

किसान के पास अपनी भूमि की अवस्था सुधारने या खेती के नये वैज्ञानिक साधन व्यवहार में लाने लायक सामर्थ्य नहीं रहता और भूमि की उपज घटने लगती है। परन्तु लगान और कर के पूँजीवाद के साथ बढ़ते जाने के कारण भूमि की कीमत बढ़ती जाती है। खेती की अवस्था में यह अन्तर विरोध संकट पैदा कर देता है। ऐसी अवस्था में किसानों के लिये भूमि के मालिक के संतोष के लायक लगान देना कठिन हो जाता है और किसान खेती करने का काम छोड़, निर्वाह का कोई साधन और न देख मजदूर बनने के लिये चल देता है। उसकी “जोत” की भूमि बिकने लगती है परन्तु भूमि का दाम तो लगान के बढ़ने के साथ बढ़ चुका है इसलिये मामूली साधनों के मालिक के लिये उसे खरीदना सम्भव नहीं होता। वह बिकती है बड़े बड़े पूँजीपतियों के हाथ, इस प्रकार पैदावार के दूसरे साधनों की ही तरह भूमि भी पूँजीपतियों के हाथ चली जाती है।

बड़े परिमाण में खेती

पूँजीवाद द्वारा उद्योग धन्दों के विकास और पैदावार की बहुत अधिक बढ़ती का रहस्य है पैदावार को केन्द्रित कर बड़े परिमाण में करने में। पैदावार को एक स्थान पर बड़े परिमाण में करने पर ही उसमें अधुनिक ढंग की बड़ी मशीनों का व्यवहार हो सकता है, खर्च घट सकता है और मनुष्य की पैदावार की शक्ति बढ़ सकती है। मनुष्य जितनी ही विकसित और बड़ी मशीन पर काम करेगा उसी परिमाण में उसकी पैदावार की शक्ति बढ़ सकेगी। उद्योग धन्दों के क्षेत्र में बड़े परिमाण में पैदावार समाज की पैदावार की शक्ति को बढ़ाती है, इस विषय में किसी को भी सन्देह नहीं। परन्तु खेती के विषय में पूँजीपतियों की राय इससे भिन्न है। पूँजीवादी प्रणाली में विश्वास रखने वालों

का कहना है कि बड़े परिमाण में खेती पैदावार को बढ़ाने की अपेक्षा घटायेगी। उसके लिये दलील के तौर पर कहा जाता है कि खेती को बड़े परिमाण में करने से किसान को भूमि के प्रति वह सहानुभूति और प्रेम नहीं रहेगा जो छोटे परिमाण में खेती करने पर होता है। परन्तु मार्क्सवाद का विश्वास है कि और दूसरे उद्योगों की तरह खेती भी बड़े परिमाण में ही होनी चाहिए, इसके बिना न तो खेती की पैदावार ही उचित मात्रा में बढ़ सकती है, न समाज में खेती की और उद्योग धन्दों की पैदावार का बँटवारा समान रूप से हो सकता है, न किसानों की आर्थिक अवस्था सुधर सकती है।

यदि उद्योग धन्दों से काम करने वाली श्रेणी मशीन से पैदावार करेगी तो उसकी पैदावार की शक्ति बढ़ जायगी। उसे अपनी मेहनत का अधिक फल मिलेगा, परन्तु किसानों के मशीन से मेहनत न करने पर उनकी पैदावार की शक्ति न बढ़ेगी और उन्हें उनकी मेहनत का फल कम मिलेगा। इस प्रकार खेती और उद्योग धन्दों की पैदावार का विनिमय समान रूप में न हो सकेगा।

पूँजीवादी लोग खेती को बड़े परिणाम में बड़ी मशीनों से करने के पक्ष में इसलिये नहीं कि भूमि के छोटे छोटे टुकड़ों पर मशीनों का व्यवहार नहीं हो सकता। उसके लिये मीलों लंबे खेत चाहिए। ऐसे खेत बनाने में अनेक जमींदारों की मिलक्रियत मिट जायगी। उद्योग धंदों में जिस प्रकार पूँजीपति निजी पूँजी को बढ़ा सकता है, जमींदार अपनी भूमि को नहीं बढ़ा सकता। खेती को बड़े परिमाण पर करने के लिये या तो जमींदारों का अधिकार भूमि पर अस्वीकार करना होगा या सैकड़ों जमींदारों की भूमि को एक में मिलाकर उसे समाज के नियंत्रण में रखना होगा। मार्क्सवादियों का कहना है कि खेती को बड़े परिमाण पर करने के सम्बन्ध में जितने भी

एतराज्ज किये जाते हैं, रूस के अनुभव से वे सब निराधार प्रमाणित हो गये हैं।

खेती को संयुक्त रूप से बड़े परिमाण पर करने से ही उसमें ट्रैक्टर आदि बड़ी बड़ी मशीनों और सिंचाई का प्रबन्ध हो सकेगा। खेती के सुधार के लिये बड़े परिमाण पर कर्जा मिल सकेगा और खेती की पैदावार को बेचने वालों में परस्पर मुकाबिला न होने पर उसे ठीक समय और पूरे मूल्य में बेचा जा सकेगा। खेती की पैदावार के विनिमय का काम संयुक्त रूप से और बड़े परिमाण में होने पर उसे व्यवहार में लानी वाली जनता तक पहुँचाने का काम व्यापारियों और साहूकारों के हाथ न रह सकेगा। किसान अपने प्रतिनिधि संगठन द्वारा उसे स्वयं कर लेगा, इस तरह किसान के श्रम का वह बड़ा भाग जो इन व्यापारियों की जेब में जाता है किसान के उपयोग में आयगा। खेती के बड़े परिमाण पर और संयुक्त रूप से करने पर किसान की मानसिक उन्नति का भी अवसर रहेगा। मशीन का व्यवहार करने से वह आज दिन की तरह दिन रात भूमि से सिर मारने के लिये विवश न होगा बल्कि उसे शिक्षा और संस्कृति प्राप्त करने के लिये समय मिल सकेगा और किसानों के परस्पर सहयोग से काम करने पर उनमें श्रेणी भावना और श्रेणी चेतना भी उत्पन्न हो सकेगी। जिसका उनमें न होना उनके शोषण को पशुता की सीमा तक पहुँचा देता है। मशीनों का व्यवहार खेती में होने से ही किसान, जो वास्तव में मिल मजदूर की तरह खेत मजदूर है, औद्योगिक धन्दों में काम करने वाले मजदूर के समान उन्नति कर सकेगा।

आर्थिक संकट

मार्क्सवाद के दृष्टिकोण से राजनैतिक और आर्थिक प्रश्नों पर विचार करते समय समाज में उत्पन्न हो जानेवाले संकट का

विचार निरन्तर हमारे सामने रहा है परन्तु अन्त में मार्क्सवाद के इस सम्वन्ध के सिद्धान्तों को स्थूलरूप से रख देना उचित होगा ।

पूँजीवादी समाज में पैदावार का काम सत्ताज के सभी लोग मिलकर करते हैं परन्तु प्रत्येक पूँजीवादी अपने ही लाभ को सामने रखता है । इसलिये सन्मिलित तौर समाज की आवश्यकताओं का न तो सही अनुमान ही हो सकता है और न उसके उपयुक्त पैदावार ही । पूँजीवादी समाज में पैदावार करने वाले अपने व्यवहार के लिये नहीं बल्कि उसे बेचकर मुनाफ़ा कमाने के लिये पैदावार करते हैं । पैदावार करने वालों को समाज की आवश्यकताओं और खपत की शक्ति का अन्दाज़ा ठीक नहीं हो सकता इसलिये समाज में पैदावार के बड़े बड़े साधनों से जो पैदावार की जाती है उसकी खपत नहीं हो पाती । इस का अर्थ यह नहीं कि समाज को उस पैदावार की जरूरत नहीं । हाँ, समाज के पास उसे खरीदने की शक्ति नहीं रहती । यदि हम पूँजीपति के मुनाफ़े को ही समाज का उद्देश्य न मान कर समाज की पैदावार और खपत पर विचार करें तो दो प्रश्न उठते हैं । प्रथम पैदावार कौन करता ? दूसरे समाज में पैदावार को कोन खपा सकता है ? पहले प्रश्न का उत्तर है—समाज में पैदावार मेहनत करने वाले करते हैं । दूसरे प्रश्न का उत्तर है—समाज में तैयार सामान की खपत समाज में मेहनत करने वाले करते हैं ।

हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि समाज में जो लोग पैदावार के लिये परिश्रम करते हैं, वे ही पैदावार को खर्च करने वाले भी हैं । यदि पैदावार के लिये परिश्रम करने वालों को अपने परिश्रम का (केवल परिश्रम की शक्ति को कायम रखने का नहीं) फल मिल जाय, तो पैदावार फालतू पड़ी नहीं रह सकती । परन्तु

ऐसा होता नहीं, इसलिये पैदावार पड़ी रह जाती है और पैदावार का क्रम टूट जाता है ।

मुनाफ़े के रूप में पैदावार के लिये परिश्रम करने वालों का जो श्रम निकाल कर एक तरफ़ रख दिया जाता है वह पैदावार और खर्च के पलड़ों को बराबर नहीं होने देता । मुनाफ़ा समाज की पैदावार करने की शक्ति को बढ़ा देता है परन्तु समाज की खर्च करने की शक्ति को घटा देता है । इसलिये एक तरफ़ तो पैदावार के अम्बार लग जाते हैं और दूसरी ओर जनता आवश्यकताएँ पूरी न हो सकने के कारण विलखते रहने पर भी पैदावार को खर्च नहीं कर सकती, क्योंकि उनके पास खरीदने की शक्ति नहीं । खर्च करने की शक्ति तो मुनाफ़े के रूप में उनसे छीन ली गई है । पैदावार के खर्च न हो सकने के कारण उसे कम करने की जरूरत अनुभव होती है ; इसका अर्थ होता है—मजदूरी के रूप में खरीदने की शक्ति जनता के पास और कम हो जाय ; यानी बेकारी और बढ़े, मेहनत कर सकने वालों की संख्या घटे और साथ ही खर्च कर सकने वालों की संख्या और भी घटे और पैदावार को और भी कम किया जाय । परिणाम में खर्च करने की शक्ति और घट जाती है । इस प्रकार यह चक्र समाज में पैदावार और खर्च के दायरे को कम करता हुआ समाज की एक बड़ी संख्या को भूखे और नंगे रह कर मरने के लिये छोड़ देता है ।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पूँजीवाद

Ultra Imperialism.

वैज्ञानिक साधनों के विकास से पैदावार की शक्ति के बहुत अधिक बढ़ जाने पर जब भिन्न भिन्न देशों के पूँजीपति अपनी पैदावार को अपने देश में नहीं खपा सकते तो उन्हें दूसरे देशों के बाजारों में अपना माल पहुँचाना पड़ता है । पूँजीपति अपना माल

दूसरे देशों में बेच कर मुनाफ़ा उठाना तो पसन्द करते हैं परन्तु अपने देश में दूसरे देश के पूँजीपतियों का माल आकर विक्रय पसन्द नहीं करते क्योंकि इससे उनके मुनाफ़े का क्षेत्र घट जाता है। अलावा इसके प्रकृति ने उपयोगी पदार्थों को सभी देशों में समान रूप से नहीं बाँट दिया है या कहिये प्रकृति ने अलग अलग देशों को अपना अपना निर्वाह अकेले कर सकने के लिये नहीं बनाया। व्यापार, व्यवसाय और पैदावार के कुछ पदार्थ एक देश में बहुत अधिक मात्रा में मिल सकते हैं और कई-ऐसे पदार्थ हैं जो उस देश में नहीं मिल सकते हैं। यह पदार्थ इन देशों को दूसरों से लेने देने पड़ते हैं। कोई देश अकेला निर्वाह नहीं कर सकता परन्तु प्रत्येक देश के पूँजीपति अपने अपने व्यवसाय में मुनाफ़ा कमाने के लिये दूसरे देशों के व्यापारिक आक्रमण से वचना चाहते हैं और दूसरे देशों पर आक्रमण करना चाहते हैं।

प्राकृतिक अवस्थाओं के कारण सभी देशों में औद्योगिक विकास समान रूप से नहीं हो पाता। औद्योगिक रूप से जिन देशों का विकास कम हुआ है, उनमें खेती द्वारा कच्चे माल की पैदावार अधिक होती है और वह देश अपनी कच्चे माल की पैदावार को खपा सकने में असमर्थ रहते हैं। इन देशों में कच्चा माल सस्ता मिल सकता है और औद्योगिक माल को बेचकर मुनाफ़ा कमाने की गुँजाइश रहती है। इसलिये औद्योगिक रूप से उन्नत देश कम उन्नत देशों पर प्रभुत्व जमा कर आर्थिक लाभ उठाने का यत्न करते हैं। कम उन्नत देश उन्नत पूँजीवादी देश द्वारा अपने शोषण

॥ जापान में लोहा नहीं मिलता, इंग्लैण्ड में रुई नहीं पैदा हो सकती, जर्मनी को पेट्रोल बाहर से लेना पड़ता है। स्वीडन को अपना लोहा बाहर भेजना जरूरी है, कनाडा अपनी लकड़ी को नहीं खपा सकता, अमेरिका अपनी रुई को बेचने के लिये जगह ढूँढता रहता है।

को रोक न सकें, या दूसरे उन्नत पूँजीवादी देश उन देशों में आकर उनका बाजार खराब न कर सकें, वहाँ उनका पूरा एकाधिकार और ठेका कायम रहे इसलिये औद्योगिक रूप से उन्नत पूँजीवादी देश कम उन्नत देशों को अपने राजनैतिक अधिकार में रखने का यत्न करते हैं। कम उन्नत देश या तो उन्नत पूँजीपति देशों के आधीन हो जाते हैं या उन्हें उपनिवेश बना लिया जाता है या उन्हें संरक्षण में लेलिया जाता है। इस प्रकार योरुप के कुछ देशों ने औद्योगिक विकास और पूँजीवाद की उन्नति के बाद सन् १८७६ से लेकर १९१४ के महायुद्ध से पूर्व कम उन्नत देशों, अफ्रीका एशिया आदि में योरुप के क्षेत्रफल से दुगुनी भूमि पर अपना अधिकार कर लिया। इसमें सबसे अधिक भाग था इंगलैण्ड और फ्रांस का। इंगलैण्ड इससे पूर्व भी भारत ब्रह्मा आदि देशों को आधीन कर चुका था और कैनाडा आस्ट्रेलिया दक्षिण अफ्रीका में अपने उपनिवेश वसा चुका था। जर्मनी और इटली में पूँजीवाद का विकास बाद में होने के कारण उनके होश सम्भालने से पहले ही इंगलैण्ड और फ्रांस पृथ्वी का बड़ाभाग सम्भाल चुके थे। भूमि की एक सीमा है, उसे पूँजीवादी देशों के शोपण के लिये आवश्यकतानुसार बढ़ाया नहीं जा सकता इस लिये पूँजीवादी देशों में भगड़ा होना आवश्यक होजाता है।

मार्क्सवाद के अनुसार किसी देश का पूँजीवाद जब मुनाफे के लिये अपने देश से बाहर कदम फैलाता है तो वह साम्राज्यवाद का रूप धारण कर लेता है। प्राचीन समय का साम्राज्यवाद सैनिक आक्रमण के रूप में आगे बढ़ता था और पराधीन देशों का शोपण भूमि कर के रूप में बरता था। पूँजीवाद का साम्राज्य विस्तार आरम्भ होता है व्यापार से और अपने व्यापार को दूसरे देशों के मुकाबिले में सुरक्षित रखने के लिये और पिछड़े हुए देशों

के कच्चे माल पर एकाधिकार रखने के लिये साम्राज्यवादी देशों में परस्पर झगड़ा और युद्ध होता है ।

मार्क्सवाद के अनुसार पूँजीवाद के ऐतिहासिक विकास का परिणाम है । साम्राज्यवाद । जिस प्रकार पूँजीवाद । वैयक्तिक स्वतंत्रता से आरम्भ होकर पूँजीपतियों के एकाधिकार में परिवर्तित हो जाता है, उसी प्रकार साम्राज्यवाद भी अन्तरराष्ट्रीय स्वतंत्र व्यापार से आरम्भ होकर बलवान पूँजीपति राष्ट्र के एकाधिकार में परिवर्तित हो गया है और इस एकाधिकार को प्रत्येक पूँजीवादी राष्ट्र के पूँजीपति अपने ही अधिकार में रखना चाहते हैं ।

साम्राज्यवाद के ऐतिहासिक विकास की तुलना हम पूँजीवाद से इस प्रकार कर सकते हैं । पूँजीपति व्यक्ति की ही तरह किसी उन्नत देश के पूँजीपति अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में कम हैसियत के पूँजीवादी राष्ट्रों को कुचलकर शोषण के क्षेत्र पर अपना एकाधिकार कायम करने का यत्न करते हैं । जिस प्रकार पूँजीपति एक व्यापारी की अवस्था से औद्योगिक साधनों द्वारा पैदावार के पदार्थों को बनाने वाला बनकर मुनाफे के जरिये भारी पूँजी इकट्ठी कर चुकने के बाद स्वयं कुछ भी न कर, रुपये के रूप में अपनी पूँजी की शक्ति को उधार देकर पैदावार का मुख्य भाग स्वयं खींचता रहता है उसी प्रकार पूँजीपति देश अन्तरराष्ट्रीय बाजार में पहले केवल व्यापार-वाणिज्य द्वारा पूँजी इकट्ठी करते हैं, उसके बाद अपनी औद्योगिक पैदावार दूसरे देशों पर लादते हैं और इस अवस्था से उन्नति कर दूसरे देशों को अपनी पूँजी में जकड़ना आरम्भ करते हैं । ऐसी अवस्था में पहुँच कर पूँजीपति देश आधीन देशों और उपनिवेशों की पैदावार में कोई भाग नहीं लेते । वे देश पैदावार का मुख्य साधन पूँजी उन देशों में लगाकर मुनाफे का भाग खींचते रहते हैं

और उन देशों की आर्थिक प्रगति और राजनीति पर अपना नियंत्रण रखते हैं।

जिस प्रकार पैदावार के साधनों के मालिक पूँजीपति और परिश्रम करनेवाली साधनहीन श्रेणी के हितों में विरोध होता है, पूँजीपति श्रेणी परिश्रम करने वाली श्रेणी के परिश्रम को मुनाफ़े के रूप में निगलती रहती है, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवाद अर्थात् एक देश के पूँजीपतियों द्वारा दूसरे देश पर अधिकार का अर्थ हो जाता है, पराधीन देश के परिश्रम का शोषण।

जिस प्रकार परिश्रम करने वाली श्रेणी के शोषण से पूँजीपति अपनी शक्ति को बढ़ा कर अपने शोषण का क्षेत्र बढ़ाता है उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में साम्राज्यवादी देश एक देश का शोषण कर दूसरे देशों को पराधीन बना कर शोषण करने की शक्ति प्राप्त करते हैं। मार्क्सवाद के अनुसार जिस प्रकार पूँजीवादी व्यवस्था का अन्त एक देश में उसे समाप्त कर देने से नहीं हो सकता, उसी प्रकार साम्राज्यवाद का अन्त भी किसी एक देश के प्रयत्न से नहीं हो सकता। उसके लिये साधनहीनों के संगठित अन्तर्राष्ट्रीय प्रयत्न की आवश्यकता है। जिस प्रकार एक देश में पूँजीवाद साधनहीन श्रेणी को पैदा कर अपनी विरोधा शक्ति पैदा कर लेता है, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में साम्राज्यवाद शोषण के क्षेत्र को घेरकर नये उगते हुए साम्राज्य अभिलाषी देश और शोषित देश पैदा कर अपना विरोध करने वाली शक्ति पैदा कर देते हैं। जिस प्रकार पूँजीपति अपने देश में पैदावार के साधनों पर मिलिक्रियत जमा कर मेहनत करने वाली श्रेणी को जीवन के उपायों से हीन कर देता है उसी प्रकार एक पूँजीवादी देश के साम्राज्य का विस्तार व्यापार के क्षेत्रों को अपने वश में कर नये उगते हुए राष्ट्रों और पराधीन राष्ट्रों के जीवन को असम्भव कर देता है।

जिस प्रकार एक देश में आर्थिक संकट आकर पूँजीवादी व्यवस्था की अयोग्यता को स्पष्ट कर देते हैं और नई व्यवस्था लाने की आवश्यकता प्रकट करते हैं, उसी तरह अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में साम्राज्यवादी युद्ध साम्राज्यवाद के आगे विस्तार को असम्भव कर देते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय-पूँजीवादी-साम्राज्यवाद

(Ultra Imperialism)

जिस प्रकार मार्क्स के समाजवादी सिद्धान्तों की व्याख्या कई प्रकार से करने की कोशिश की गई है और पूँजीवादी संकट को हल करने के लिये कई उपाय तजवीज किये गये हैं, उसी प्रकार साम्राज्यवाद में पैदा होने वाले अन्तर्राष्ट्रीय विरोधों को हल करने के लिये भी तजवीजें पेश की गई हैं।

इनमें से मुख्य सिद्धान्त है काटस्की (Kautsky) का अन्तर्राष्ट्रीय-पूँजीवादी-साम्राज्यवाद (Ultra Imperialism) काटस्की का कहना है कि साम्राज्य विस्तार का यत्न पूँजीवाद का आवश्यक परिणाम नहीं। साम्राज्य विस्तार की नीति की जिम्मेदारी पूँजीवादी देशों के कुछ एक पूँजीपतियों पर है। इस विषय में यदि पूँजीवादी देश समझौता करके अपने माल को खपाने के लिये और कच्चा माल प्राप्त करने के लिये संसार को बाँट लें तो सभी पूँजीवादी राष्ट्रों की आवश्यकता पूरी हो सकती है और अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों का होना जरूरी नहीं रहेगा।

परन्तु मार्क्सवादियों के विचार में काटस्की का यह सिद्धान्त न तो इतिहास के अनुभव पर पूरा उतरता है और न पूँजीवाद के विकास के मार्ग के अनुकूल ही है। काटस्की इस बात को भूल जाता है कि जिस प्रकार एक देश में आर्थिक हितों की रक्षा के लिये श्रेणियाँ राजनैतिक शक्ति का व्यवहार करती हैं। उसी प्रकार

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पूँजीवादी राष्ट्र अपने आर्थिक हितों की रक्षा के लिये अपने राष्ट्रों की सैनिक शक्ति का व्यवहार करते हैं। जब तक पूँजीवादी राष्ट्रों के सामने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में मुनाफ़ा कमाने का प्रश्न है उनमें समझौता हो नहीं सकता। प्रत्येक राष्ट्र इस लूट में सब से बड़ा भाग लेने का यत्न करेगा। जब तक बलवान पूँजीवादी देशों का भय रहेगा, निर्बल पूँजीवादी देश लूट के बाज़ार में कम भाग लेना स्वीकार कर लेंगे। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय लूट द्वारा उनकी सैनिक शक्ति बढ़ते ही वह और अधिक बाज़ारों और उपनिवेशों की माँग पेश करेंगे। अभी हाल की अन्तर्राष्ट्रीय घटनायें इस बात को प्रमाणित कर देती हैं। अपनी पूँजी की शक्ति और सैनिक शक्ति बढ़ाकर पहले इटली ने केवल अवीसीनिया की माँग पेश की परन्तु अवीसीनिया के हज्म होते ही उसे और उपनिवेशों और प्रदेशों की आवश्यकता अनुभव होने लगी। अवीसीनिया को हज्म करने के बाद अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की रक्षा के लिये उसका और फ्रांस का समझौता टूट गया। दूसरा उदाहरण जर्मनी का हमारे सामने है। अपनी सीमा के देशों को अपनी पूँजीवादी लूट का क्षेत्र बना चुकने के बाद भी जब जर्मनी की पूँजीपति श्रेणी की भूख शांत नहीं हुई तो जर्मनी ने दूर देशों और उपनिवेशों की माँग पर जोर देना आरम्भ किया। मानो, निर्बल और पिछड़े हुए देशों का जन्म जर्मनी के अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवाद का शिकार बनने के लिये ही हुआ हो।

यदि काटस्की के अन्तर्राष्ट्रीय-पूँजीवादी-साम्राज्यवाद के सिद्धान्त के अनुसार पूँजीवादी राष्ट्र परस्पर समझौते द्वारा संसार के निर्बल राष्ट्रों को शोषण के लिये परस्पर वाँट भी लें तो भी वह समझौता संसार में चिर शांति स्थापित नहीं कर सकता। क्योंकि शोषित राष्ट्रों की जनता का भी अपने जीवन के अधिकारों के

लिये प्रयत्न करना आवश्यक और स्वाभाविक है और इस कारण उपनिवेशों तथा पराधीन देशों में अन्तर्राष्ट्रीय अशान्ति का कारण बना ही रहेगा ।

मार्क्सवाद के दृष्टिकोण से वर्तमान संसार में व्यक्ति के जीवन से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति में संकट का कारण आर्थिक विषमता है । समाज में पैदावार सम्पूर्ण समाज के हित के लिये नहीं की जाती बल्कि कुछ व्यक्तियों के मुनाफे के लिये ही की जाती है इसीलिये ऐसी विषमता पैदा हो जाती है । इस विषमता को कायम रखने के लिये पूँजीवादी समाज में सरकार की व्यवस्था और अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में साम्राज्य की व्यवस्था करनी पड़ती है । मार्क्सवाद समाज में एक नई व्यवस्था लाने के लिये यत्न करना चाहता है जिसमें यह सब विषमतायें और बन्धन न रहें जो व्यक्ति और समाज के विकास को असम्भव बना रहे हैं । मार्क्सवाद के सिद्धान्त इस प्रकार की नयी व्यवस्था कायम करने की शक्ति रखते हैं या नहीं, इसी बात को स्पष्ट करने के लिये उन्हें उनके वास्तविक रूप में रख देने का यत्न किया गया है ।

समाज में शान्ति और व्यवस्था कायम करने के लिये समय समय पर अनेक सिद्धान्तों का जन्म हुआ है । इन सिद्धान्तों का समुच्चय ही समाज शास्त्र है । मार्क्सवाद आदि काल से संकलित होते हुए समाज शास्त्र का सबसे नवीन अध्याय है ।
